Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रधान–सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुंद लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 29, अंक 1
जनवरी, 2015

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्ष 29, अंक 1 जनवरी, 2015

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

प्रधान–सम्पादक

यशदेव शल्य

मुकुन्द लाठ

सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा

प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान

जयपुर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परामर्शदाता

1. रामजी सिंह, 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. अशोक वाजपेयी, सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. रमेशचन्द्र शाह, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. अशोक वोहरा, 21/4, कैवेलरी लाइन, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–110007

प्रधान-सम्पादक

1. **यशदेव शल्य**, पी–51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015, दूरभाष 2707493
2. **मुकुन्द लाठ**, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302006 दूरभाष 2294727/2293725

सम्पादक

1. अम्बिकादत्त शर्मा, सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498
2. प्रदीप कुमार खरे, आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal)

वार्षिक शुल्क

व्यक्तिगत : रु. 50/–
संस्थाएं : रु. 100/–

आजीवन शुल्क

व्यक्तिगत : रु. 1000/–
संस्थाएं : रु. 5000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

यशदेव शल्य, मुकुंद लाठ एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रमणिका

1. उत्तर आधुनिकतावाद : अ–ऐतिहासिक एवं अ–सामाजिक मानवीय विवेक की तार्किक परिणति — 5
विश्वनाथ मिश्र

2. उत्तर–आधुनिकतावाद : एक पुनरावलोकन — 29
प्रशान्त शुक्ल

3. आधुनिकता एवं उत्तर–आधुनिकता अंतर–संवाद के ज्ञानमीमांसीय संदर्भ — 58
संजय कुमार शुक्ला

4. उत्तर–आधुनिकता और नारीवाद कितने दूर – कितने पास — 72
आलोक टण्डन

5. आधुनिकता बनाम उत्तर–आधुनिकता संवाद में हैबरमास का स्थान — 85
अजय वर्मा

6. सत्य के प्रयोग : उन्मीलन से उन्मूलन तक गाँधी एवं फूको का विमर्श–संदर्भ — 94
सुधीर कुमार

7. धर्मों की तुलना पर कुछ प्रारंभिक विचार — 102
मुकुन्द लाठ

8. *पुस्तक–समीक्षा* — 117
प्रमाणमीमांसीय चिन्तन तथा अद्वयवाद
सच्चिदानन्द मिश्र

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है? क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उत्तर आधुनिकतावाद : अ-ऐतिहासिक एवं अ-सामाजिक मानवीय विवेक की तार्किक परिणति

विश्वनाथ मिश्र

आज के अकादमिक विमर्शों में उत्तर आधुनिकतावाद सर्वाधिक विस्तृत फलक वाला विमर्श साबित हुआ है। यह अपनी प्रस्थापनाओं में सर्व–उच्छेदवादिता का आभास देता है। यह आभास सत्य के प्रकट और प्रच्छन्न स्वरूप के अब तक की रूढ़ मान्यताओं को धुँधला कर देता है। या यह कहें कि उत्तर–आधुनिकतावाद सत्य के एकल सर्वग्राही, सार्वभौमिक शाश्वत स्वरूप के भीतर पैठ बनाने और उसकी आन्तरिक संरचना को समझने का प्रस्ताव रखता है। जहाँ, सत्य का स्वरूप अनिश्चित, अन्तरिम, विकेन्द्रित एवं तरल होता है। उत्तर–आधुनिकतावाद ज्ञानमीमांसा के उत्तर–संरचनावादी मान्यताओं से साम्य रखता है (चैरिस बार्कर 2000:20) जो वास्तव में सत्य के निश्चित एवं केन्द्रीय मान्यता का विखण्डन है। दोनों ही तत्त्वमीमांसा में अविश्वास प्रकट करते हैं तथा दोनों ही द्विपदीय विपरीतार्थक (बायनेरी अपोजिशन) से अधिशासित अवधारणाओं और उससे उत्पन्न वस्तुनिष्ठता का खंडन करते हैं। समग्र रूप से यह कहना सम्यक् होगा कि उत्तर–संरचनावाद के भाषायी विमर्श का सामाजिक रूपान्तरण उत्तर–आधुनिकतावाद है। सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर यदि औद्योगिक समाज का दर्शन आधुनिकतावाद है तो परा–औद्योगिक समाज का दर्शन उत्तर–आधुनिकतावाद है।

सामान्यतः आधुनिकतावाद के तत्त्ववाद, बुद्धिवाद एवं ज्ञान की सार्वभौमिकता के आग्रहों का उत्तर–आधुनिकतावाद के द्वारा किए गये खण्डन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि उत्तर–आधुनिकतावाद मूल रूप से आधुनिकतावाद का विरोधी है। अतः उत्तर–आधुनिकतावाद मूलतः आधुनिकतावाद का पश्चगामी विचार है। इस मान्यता की सत्यता पर विचार करने के लिए कुछ प्रश्नों के उत्तर समझना आवश्यक है जो इस प्रकार प्रस्तावित किए जा सकते हैं। प्रथम, क्या उत्तर–आधुनिकतावाद

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

औद्योगिक उत्पादन के स्थान पर कृषिकीय क्षेत्र को बढ़ावा देने का समर्थक है? द्वितीय, क्या उत्तर–आधुनिकतावाद नगरीय जीवन को छोड़कर ग्रामीणीकरण का पक्षधर है? तृतीय, क्या उत्तर–आधुनिकतावाद वैज्ञानिक शिक्षा को छोड़कर आध्यात्मिक जैसी किसी शिक्षा को बढ़ावा देने का पक्षधर है? चतुर्थ, क्या उत्तर–आधुनिकतावाद विधि के शासन को छोड़कर व्यक्ति के शासन का पक्षधर है? पंचम, क्या उत्तर–आधुनिकतावाद संचार के आधुनिक साधनों को छोड़कर प्रस्तर या मध्ययुगीन संचार साधनों को अपनाने का पक्षधर है? इन पाँच प्रश्नों में जिन पक्षों को वाक्य में पहले स्थान दिया गया है वे सम्मिलित रूप से आधुनिकता को प्रकट करते हैं। पर, उत्तर–आधुनिकता इनमें से किसी को भी त्याग देने की बात नहीं करता है। वह मात्र आधुनिकता के तत्त्ववादी, बुद्धिवादी एवं सार्वभौमिक ज्ञान की मान्यता का खण्डन करता है। इस खण्डन के लिए उत्तर–आधुनिकतावादियों के पास भाषायी, सामाजिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, एवं मनोवैज्ञानिक तर्क हैं जिनको उन्होंने इस अकस्मिक जगत् में मानव अस्तित्व की अकस्मिकता को संदर्भ बनाकर गढ़ा है। फलतः उत्तर–आधुनिकतावादियों के भाषायी, सामाजिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक संसार में स्थायी या मूलाकृति जैसा कुछ भी नहीं है।

विचार पूर्वक देखें तो जगत् एवं मनुष्य की आकस्मिकता पाश्चात्य पुनर्जागरण में प्रतिष्ठित मानव के अनुकूल है। पाश्चात्य पुनर्जागरण का मानव अ–ऐतिहासिक, अ–सामाजिक, अहंवादी, स्वार्थी एवं विवेकशील है। ऐसे मानव को विचारों के किसी पूर्व निश्चित साँचे के साथ समायोजित करना अपने आप में अतार्किक सोच है। किन्तु, मध्ययुगीन जड़ताओं से मुक्ति और प्रकृति पर विजय पाने का लक्ष्य इस मानव का प्राथमिक लक्ष्य था। इसे आधुनिक विज्ञान, धर्मनिरपेक्षता, औद्योगीकरण आदि के द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न आरम्भ किया गया। इन संगठित प्रयत्नों के पीछे निहित विचारों से ही उन सार्वभौमिक मान्यताओं (महाविचारों) का उदय हुआ जिसने पुनर्जागरण के मानव को पुनः अपनी गिरफ्त में ले लिया। साथ ही यह भी हुआ कि मध्ययुगीन जड़ताओं से मुक्ति एवं प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के संगठित प्रयासों का लाभ सबको नहीं मिला। समस्या अब यह आ गयी कि कैसे पुनः रेनाशाँ के मानव की पुनर्वापसी की जाय और कैसे जो आधुनिकता के दौड़ में पीछे रह गये हैं उनकी आवाज और तर्क को भी जायज ठहराया जाय।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वास्तव में उत्तर–आधुनिकता इसी समस्या के हल के प्रयास में उपजे एक वैचारिक आन्दोलन के रूप में व्याख्यायित हो सकती है। इस दृष्टि से उत्तर–आधुनिकतावाद वास्तव में आधुनिकतावाद का पुरोगामी विचार है।

उत्तर–आधुनिकतावाद : इतिवृत्तात्मक पर्यवेक्षण

विल्हैम फ्रेड्रिक नीत्शे को उत्तर–आधुनिक चिन्तन का जनक माना जाता है। यद्यपि इस शब्द का प्रयोग स्वयं नीत्शे ने नहीं किया था। रूडोल्फ पेनीविट्ज जो कि नीत्शे की ही तरह जर्मनी का चिन्तक है। उसने इस शब्द का प्रयोग 1913 में किया था।[1] द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति तक उत्तर–आधुनिक शब्द का प्रयोग जीवन के अलग–अलग क्षेत्रों में और अलग–अलग अर्थों में देखने को मिलता है। स्पेनिश साहित्यकार फेडरिको डी ऑनिस 1934 में इस शब्द का प्रयोग आधुनिकता की आलोचना के लिए करता है। अंग्रेजी साहित्य में 1939 में उत्तर–आधुनिकता शब्द का प्रयोग दो भिन्न–भिन्न अर्थों में देखने को मिलता है। प्रथम, आरनॉल्ड टॉयनबी इतिहास में इस शब्द का प्रयोग प्रथम विश्वयुद्ध के बाद के समाज को अभिव्यक्त करने के लिए करता है। जहाँ वह नवीन लोक–समाज को ऐसे सूत्र के रूप में देखता है जिसने पूँजीपति वर्ग को लोक–संस्कृति से आच्छादित कर दिया है। द्वितीय, उत्तर–आधुनिकता शब्द का प्रयोग ईसाई धर्मावलम्बी बर्नार्ड इडिंग्स प्राचीन धार्मिक समाज की ओर वापस मुड़ने के रूझान को व्यक्त करने के लिए करता है। वह मानता है कि आधुनिकता के द्वारा प्रचारित धर्म–निरपेक्षता ने धर्म के महत्त्व को कम कर दिया है। विगत शताब्दी के पाँचवें एवं छठे दशक में लेखक के अन्त की बात कही जाने लगी। इसका मूल मन्तव्य लेखन में व्याप्त निश्चयात्मकता का विरोध करना था और यह भी एक तरह से उत्तर–आधुनिकता को प्रतिध्वनित करता है। सातवें दशक में कला, संगीत, स्थापत्य आदि के क्षेत्रों में आधुनिकता द्वारा आरोपित एकरूपता, जिसके माध्यम से एक सार्वभौम समाज के निर्माण का प्रयास हुआ था, के विरोध में उत्तर–आधुनिकता शब्द को विभिन्नता को प्रकट करने के लिए रॉबर्ट वेन्चुरी, डेविड हार्वे, चार्ल्स जिंक्स आदि के द्वारा अपनाया गया।

सत्तर के दशक तक आते–आते आधुनिक समाज के औद्योगिक स्वरूप में भी परिवर्तन आने लगा था। अब उत्पादन के परम्परागत संघटक तत्त्वों यथा जमीन, पूँजी, श्रम एवं उद्यमिता के स्वरूप बदलने लगे थे। उत्पादन में ज्ञान और तकनीक का प्रयोग एक बड़े बदलाव की देहरी पर पहुँच चुका था। जहाँ सेवा क्षेत्र का विस्तार एक बड़ी परिघटना साबित हो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रही थी, वहीं उद्योगों में अदृश्य श्रम की भूमिका बढ़ती जा रही थी। ऐसे समाज को उत्तर–औद्योगिक समाज और उत्तर–आधुनिक समाज (डेविड लियॉन 2002:48) के रूप में पहचानने की कोशिश की गई। साठ और सत्तर के दशक में विवेकवाद, तत्त्ववाद एवं सार्वभौमिकतावाद का विरोध जो फ्रांसीसी नव–बुद्धिजीवी वर्ग के प्रयासों के फलस्वरूप सामने आया, उसने अपने आप को उत्तर–आधुनिक पदावली के साथ संहयोजित कर लिया। यह वास्तव में अपने समय के सम्पूर्ण फ्रांसीसी शैक्षणिक एवं राजनीतिक परिवेश के साथ–साथ उदारवाद, मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद और संरचनावाद जैसे विचारों के प्रति अभिव्यक्ति थी। ऐसे विचारकों में गिलिज डिलूजे, लुई इरिग्रे, ल्योतार, मिशेल फूको, दरिदा आदि महत्त्वपूर्ण है।[2] इन विचारकों ने अध्ययन में वस्तुनिष्ठता के आग्रह को नकारा और अध्ययन को व्यक्तिनिष्ठता के साथ–साथ आत्मनिष्ठता से जोड़ने का प्रस्ताव किया। पुनः इन विचारकों ने महान वृत्तान्तों में अपनी अक्श को खोजने में भटके एवं उलझे हुए लोगों के समक्ष सत्य की स्थानीयता का उद्घाटन किया। साथ ही 'शब्द केन्द्रितता' के आधार पर गढ़े गये परस्पर द्विपदीय विपरीतार्थकों के खोखले दावों को उजागर भी किया।

वास्तव में देखा जाये तो उत्तर–आधुनिक चिन्तन में परा–औद्योगिक समाज का प्रतिबिम्ब दिखता है और इसके अभिव्यक्त रूप में संवृत्तिशास्त्र (फेनोमेनोलॉजी), क्वाण्टम सैद्धान्तिकी एवं उत्तर–संरचनावादी भाषा–विमर्श के तर्कों एवं मान्यताओं का प्रयोग हुआ है।[3] उत्तर–आधुनिकतावाद की यह मान्यता कि जो भासित है वह वैसा ही नहीं भी हो सकता है, जैसा कि हमारे ज्ञान के विषय बनने में उसकी प्रतीति होती है, वास्तव में संवृत्तिशास्त्र के तर्कों एवं मान्यताओं पर आश्रित है। संवृत्तिशास्त्र के संस्थापक एडमण्ड हुस्सर्ल मानते हैं कि वस्तुएँ अपना अर्थ उन्हें देखने वाले की चेतना में स्थित बोध के द्वारा अर्थ ग्रहण करती हैं। चेतना में स्थित यह बोध स्वयं इतिहास, संस्कृति, वैचारिकी आदि से निर्मित होती है। अतः वस्तुएँ जब हमारे ज्ञान का विषय बनती हैं तब वे हमारे चेतन–बोध में आवेष्ठित होकर ही अपनी अर्थवत्ता प्रस्तुत करती हैं न कि उस विशुद्ध रूप में जैसी कि वे स्वयं में हैं। हुस्सर्ल का सुझाव है कि यदि हमें वस्तुओं के निज–रूप का ज्ञान प्राप्त करना है तब हमें अपनी चेतना के उपर आच्छादित विभिन्न ऐतिहासिक एवं प्राकृतिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रभावों को दरकिनार (ब्रैकेटिंग) करना होगा। साथ ही इस क्रिया में अपने ज्ञान में वस्तु का जो स्वरूप बचता है, उसे सत्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

या असत्य सिद्ध किए बिना (इपॉकी) स्वीकार करना होगा। 'विखण्डन' के माध्यम से दरिदा और 'पुरातात्त्विक जाँच' के माध्यम से फूको वस्तु-या समाज के उसी असंदिग्ध स्वरूप को पहचानने की कोशिश करते हैं। किन्तु, हुस्सर्ल जहाँ ब्रैकेटिंग एवं इपाकी के माध्यम से वस्तु के निज–रूप और उसके असंदिग्ध ज्ञान की संभाव्यता को स्वीकार करते हैं, उत्तर–आधुनिक चिन्तक विखण्डन एवं पुरातात्त्विक जाँच से निकलने वाले प्रत्येक अर्थ को स्वीकार करने का प्रस्ताव रखते हैं।

क्वाण्टम सैद्धान्तिकी की भी उत्तर–आधुनिक चिन्तन को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। जिस तरह आधुनिकता के वैज्ञानिक एवं तकनीकी पक्ष को न्यूटन की विश्व–दृष्टि से समझा जाता है उसी तरह क्वाण्टम सैद्धान्तिकी की विश्व–दृष्टि से उत्तर–आधुनिकतावाद को पहचाना जा सकता है।[4] न्यूटन की गतिकी में विश्व को नियन्त्रित करने वाले सार्वभौम नियमों की स्वीकृति है। प्रकृति जगत् को नियन्त्रित एवं निर्देशित करने वाली शक्तियों का प्रभाव मानव और समाज पर भी पड़ता है। अतः जिस प्रकार प्रकृति जगत् के सार्वभौम नियम होते हैं उसी प्रकार समाजिक जगत् के भी होते हैं। आधुनिकतावादी चिन्तन के सार्वभौमिक दावों का वैज्ञानिक आधार इसी न्यूटन की गतिकी से प्राप्त होता है। इसके विपरीत क्वाण्टम सैद्धान्तिकी ने सार्वभौमिकता के वैज्ञानिक दावों को खारिज कर दिया। एन्टी–मैटर की संकल्पना, अनिश्चितता का सिद्धान्त आदि ऐसे वैज्ञानिक दावे के रूप में प्रस्तुत हुए जिन्होंने विश्व की निरन्तर परिवर्तनशीलता को समझने के शाश्वत नियमों की कलई खोल दी। उत्तर–आधुनिकता का तर्क भी पूर्वकल्पित सार्वभौम मान्यताओं के आधार पर जगत् के स्थायित्व की खोज के आधारों को प्रश्नांकित करते हैं और होने तथा नहीं होने के मध्य न झूठला सकने वाले तत्त्वों को जानने–समझने की कोशिश करते हैं। इसी दौर में जीवविज्ञान व साइबरनेटिक्स के क्षेत्र में स्वनियन्त्रित पद्धति, अव्यवस्थित सिद्धान्त (केआस थ्योरी) और आपत्तिजनक सिद्धान्त (कैटेस्टोपी थ्योरी) जैसे विज्ञान के नये सिद्धान्तों ने भी उत्तर आधुनिकतावाद को प्रेरित किया है (कोहेन लॉरेन्स 2003:6)।

इस प्रकार उत्तर–आधुनिकतावाद एक दृष्टि से उत्तर–संरचनावाद की अगली कड़ी है। फूको, ल्योतार, दरिदा आदि उत्तर–संरचनावादी होकर ही उत्तर–आधुनिकतावादी हैं। वास्तविकता यह है कि इन विचारकों ने जब द्विपदीय विपरीतार्थकों की संरचनावादी जकड़न से भाषा को निकालकर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शब्द केन्द्रीयता के बजाय 'अन्तःपाठीयता' पर अमल किया है, तब ये सभी विचारक उत्तर–संरचनावादी हैं। ये ही विचारक जब समाज एवं संस्कृति को समझने हेतु विखंडन, फ्रैग्मेंटेशन, लैंग्वेज गेम इत्यादि का सहारा लेते हैं तब उत्तर–आधुनिक विचारक के रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इस परिप्रेक्ष्य को समझने के लिये उत्तर–आधुनिकतावाद की पद्धतिशास्त्रीय मीमांसा यहाँ अपेक्षित प्रतीत होती है।

उत्तर–आधुनिक पद्धतिशास्त्र : समीक्षात्मक पर्यवेक्षण

उत्तर–आधुनिक पद्धतिशास्त्र के सन्दर्भ में अकादमिक एवं गैर अकादमिक चर्चाओं में दो परस्पर विरोधी बातें सामने आती हैं। प्रथम, यह कि उत्तर–आधुनिकतावाद ने पद्धतिशास्त्रीय मान्यताओं का खण्डन कर दिया है। द्वितीय, यह कि उत्तर–आधुनिकतावाद एक ऐसे पद्धतिशास्त्र का प्रस्ताव करता है जो महाविचारों और वस्तुनिष्ठ ज्ञान का विरोध करता है। इन दोनों में दूसरा मत ही सटीक है। उत्तर–आधुनिक पद्धतिशास्त्र में विशेष रूप से विखंडन, अन्तःपाठीयता, पुरातात्त्विक (आर्कियोलॉजिकल) एवं आनुवांशिकी (जिनियोलॉजिकल) पद्धति की विशेष रूप से चर्चा होती है। किन्तु, नीत्शे के शून्यवाद से उत्तर–आधुनिक पद्धतिशास्त्र की समझ विकसित किए बिना यह मीमांसा पूर्ण नहीं हो सकती है। मात्र इसलिए नहीं कि शून्यवाद भी सर्व उच्छेदवादी दर्शन है बल्कि इसलिए भी कि नीत्शे का महामानव ईश्वर तथा नैतिकता–अनैतिकता के शून्य की स्थिति में, वास्तव में, रेनाशाँ के मानव की ही पुनर्वापसी की पटकथा है।

शून्यवाद

नीत्शे को उत्तर–आधुनिक चिन्तन के जन्मदाता के रूप में स्वीकार करने से यह एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि क्या उत्तर–आधुनिक पद्धतिशास्त्र शून्यवाद का ही घटक या प्रस्तावक है या उत्तर–आधुनिक पद्धतिशास्त्र की शून्यवाद से पृथक् अपनी स्थापनायें हैं। जहाँ तक सत्य का प्रश्न है कि सत्य है, नहीं है या सत्य अनेक है, तो नीत्शे की शून्यवादी दृष्टि तरल एवं निर्देश रहित सत्यता का बोधक है। यह शून्यवादी दृष्टि उत्तर–आधुनिक सत्य का समानार्थी है। इसी तरह जीने के संकल्प के परिणाम में अनुस्युत शक्ति की संकल्पना के द्वारा ज्ञान के स्वरूप को प्रभावित करने के नियम की अनुगूंज उत्तर–आधुनिक चिन्तन में भी मिलती है। विशेषकर फूको के विमर्श में जहाँ वह 'ज्ञान शक्ति है' का उद्घोष करता है। इसी तरह नीत्शे की यह मान्यता कि अलग–अलग लोगों में शक्ति–संकल्पना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की भिन्नता अलग–अलग मूल्य बोध उत्पन्न करती है और यह मूल्य बोध पदार्थों के हमारे ज्ञान के विषय बनने में हमारी चेतना को प्रभावित करती है। फलतः लोगों के अपने–अपने ज्ञान और उनके अपने–अपने सत्य होते हैं। यदि इसका अभिप्राय सत्य के सार्वभौमिक स्वरूप को नकारना है तब तो नीत्शे के शून्यवाद से उत्तर– आधुनिकतावाद को सादृश्य मूलक समानता के धरातल पर अवस्थित करना लाजिमी है। किन्तु नीत्शे के शून्यवाद का निहितार्थ कुछ और भी रहा है। वह इस विश्व को पूर्वानुमेय बनाने में ज्ञान की निश्चितता का और सत्य के ऐसे स्वरूप का समर्थन करता है जो इस विश्व को बेहतर बना सकते हैं। वास्तव में नीत्शे का शून्यवाद कौन से ज्ञान और सत्य को नकारना चाहता है, इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त किए बगैर उत्तर–आधुनिकतावाद और शून्यवाद के मध्य संवाद के सूत्रों को पकड़ना दोनों के मध्य यादृच्छिक संबंध के शिरे को पकड़ने जैसा ही है।

द्रष्टव्य है कि नीत्शे निम्न समुदाय के ज्ञान और सत्य को उच्च वर्ग के ज्ञान एवं सत्य की प्रतिक्रिया में उत्पन्न मानता है। यह सहजबोध पर आधारित न होने से यह स्वाभाविक ज्ञान नहीं है। उच्च वर्ग के ज्ञान और उनका सत्य अवश्य ही सहजबोध पर आधारित है और इसी कारण वह निम्न वर्ग के ज्ञान से श्रेष्ठ है। परन्तु उच्च वर्ग का ज्ञान भी 'अपोलियाई दुष्प्रभाव' से आच्छादित हो गया है। अब (आधुनिक युग) उच्च वर्ग में भी 'डायोनिसियाई' सर्जनात्मकता, शक्ति एवं संस्कृति का ह्रास हो गया है। ऐसी स्थिति में उच्च वर्ग के ज्ञान की श्रेष्ठता का दावा खोखला है और उस खोखले दावे की प्रतिक्रिया में निम्न वर्ग द्वारा अपने मूल्यों को गढ़ने का प्रयास बेतुका है। परन्तु गौरतलब है कि पतन और निराशा के बाहर कोई दुनियाँ भी नहीं है। न ही ईश्वर जैसी कोई सर्वशक्तिमान सत्ता है जो हमारी मदद कर सके। अतः मनुष्य को खुद ही शाश्वत वापसी (रिकरेंस) करनी है, जहाँ उसमें डायोनिसियाई अदम्य उर्जा (अतिमानव) का संकल्प साकार हो सकता है।

इस प्रसंग को ध्यान में रखकर विचार करें तो नीत्शे का शून्यवाद पलायन, निम्न वर्ग की नैतिकता, उच्च वर्ग का दम्भ एवं बनावटीपन (सभी आधुनिकता के पार्श्वप्रभाव हैं) का निषेध करता है। इस निषेध में एक स्वीकृति है जो नीत्शे पर शोपेनहावर के प्रभाव से आयी है और वह यह है कि सर्जनात्मकता और यथार्थ के मूल में ऐसी शक्ति व्याप्त होती है जिसे मानवीय विवेक के आधार पर नहीं समझा जा सकता है। सर्जनात्मकता और यथार्थ डायोनिसियन शक्ति के मानव में विस्फोट का परिणाम है और यही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मानव अस्तित्व की समग्रता का पर्याय भी है। नीत्शे वैज्ञानिक नियमों को सार्वभौम बनाने के प्रयत्नों की आलोचना करता और उसका यह अर्थ निकाल लिया जाता है कि नीत्शे सार्वभौमिक सत्य के अस्तित्व से इन्कार करता है। साथ ही साथ यह भी कि मनुष्य जिसे सत्य कहता है वह रूपकों, अलंकारों और अनुभवों के घनीभूत मानकीकरण (डेविड लियॉन 2012:11) के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। परंतु निश्चय ही यह आग्रह नीत्शे की इस मान्यता से मेल नहीं खाती है कि 'मनुष्य के आगमन के पूर्व से ही इस सृष्टि में एक शाश्वत व्यवस्था रही है और वह मनुष्य से इतनी निरपेक्ष है कि मनुष्य के अस्तित्व की समाप्ति से भी सृष्टि की विराट योजना पर कोई असर नहीं पड़ेगा। यहाँ नीत्शे का विचार पाठक को दो विपरीत ध्रुवों के मध्य दोलायमान कर देता है। जहाँ एक ओर शाश्वतता की स्वीकृति है तो दूसरी ओर सार्वभौमिकता का निषेध है। उत्तर–आधुनिक चिन्तकों ने नीत्शे की इस दूसरी धारा से अपने को जोड़ा है। किन्तु उत्तर–आधुनिक चिन्तकों के द्वारा ही प्रस्तावित 'इन्टर टैक्सचुअल पद्धति' के प्रयोग से नीत्शे को देखा जाय और उसके सभी ग्रन्थों में निहित 'बिटविन दी लाइन्स' के गैप को भरा जाय तब एक दूसरी ही तस्वीर सामने आती है। आखिर क्यों नीत्शे अपने समय के इतिहासकार डेविड स्त्रास के उन प्रयत्नों का खण्डन करता है जिसमें उसने वैज्ञानिक नियमों की सार्वभौमिकता के पक्ष में तर्क उपस्थित किया है? क्यों नीत्शे ऐसे प्रयत्नों को सांस्कृतिक पतन का सूचक मानता है? नीत्शे की ओर से इसके दो उत्तर दिये जा सकते हैं। पहला यह कि ऐसे प्रयासों में अपोलियाई दुष्प्रभाव है और द्वितीय यह कि जीवन के सिद्धान्त ज्ञान की अपेक्षा उच्चतर होते हैं। ज्ञान की खोज का उद्देश्य जीवन को बेहतर बनाने का होना चाहिये और अपोलियाई दुष्प्रभाव जन्य ज्ञान जीवन को बेहतर बनाने के बजाय उसको पतित कर देते हैं।

इस प्रकार नीत्शे के उपर्युक्त मन्तव्य का निहितार्थ यह तो नहीं निकलता कि विमर्श न तो सत्य होते हैं और न ही असत्य, अपितु विमर्श को सत्य या असत्य प्रमाणित करने का प्रयास ही गलत होता है। नीत्शे तो एक उद्दाम जीवन की संकल्पना के परिप्रेक्ष्य में उसे पतित करने वाले ज्ञान को खारिज करता है। जबकि उत्तर–आधुनिकतावादी (मिशेल फूको 1990:114) ज्ञान की सत्यता या असत्यता को प्रमाणित करने के प्रयासों को खारिज करते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विखण्डन (डी कन्स्ट्रक्शन)

विखण्डन के अभाव में उत्तर–आधुनिकतावाद और दरिदा के बिना विखंडनवाद अपूर्ण है। वास्तव में उत्तर–आधुनिकता विखंडनवाद के सैद्धान्तिक गतिकी से ही अपनी वैचारिक रणनीति प्राप्त करता है (हॉन्स बर्टेन्स एवं जोसेफ नातोली 2002:110)। विखंडनवादी पद्धति की तह में जाने के लिए पाँच प्रश्नों पर विचार करना वाँछनीय है। प्रथम, क्या हम भाषायी संकेतों का प्रयोग करते हुए अपने मन्तव्य, अनुभूति या बोध को यथावत संप्रेषित कर पाते हैं? द्वितीय, संप्रेषण में वाणी से संप्रेष्य और लेखन से संप्रेष्य का स्वरूप एक ही जैसा होता है? तृतीय, क्या हमारी अभिव्यक्ति को अन्य चीजों के साथ स्वयं व्याकरण के नियम भी इस तरह से प्रभावित नहीं करते हैं कि वे हमारी अभिव्यक्ति को अपने नियमों की सीमा में बांध देते हैं? चतुर्थ, क्या श्रोता और पाठक शब्दों का अर्थान्वयन ठीक वैसा ही करते हैं, जैसा वक्ता और लेखक स्वयं कर रहा होता हैं? और क्या भाषायी संकेतों के माध्यम से हम पदार्थ जगत् या परिघटना को ठीक उसी रूप में समझते है जैसा कि वे स्वयं में हैं? दरिदा अपनी विख्यात रचना 'ऑफग्रामेटोलॉजी' में इन्हीं प्रश्नों का उत्तर खोजता है। इन सभी प्रश्नों का एक रूपक के रूप में उत्तर तो वहीं मिल जाता है जब 'द इन्ड ऑफ द बुक एण्ड बिगिनिंग ऑफ राइटिंग' की शुरूआत दरिदा नीत्शे के इस कथन से आरम्भ करता है कि 'सुकरात, वह जिसने लिखा नहीं' (ज्याक दरिदा 2002:6)। दरिदा भाषा को संकेतों का अवमूल्यन कहता है क्योंकि संकेतों की दुनियाँ में असीम अर्थान्वयन है, जबकि भाषायी दुनियाँ का अर्थान्वयन सीमित है (ज्याक दरिदा 2002:6)। यह तो बात हुई वाचिक संसार की, परन्तु लेखकीय संसार की दुनियाँ तो इससे भी अधिक सीमित है। दरिदा लेखन को वाणी पर वरीयता प्रदान करता है (चैरिस बार्कर 2000:73)। परन्तु दरिदा ऐसा कहते हुए स्वयं अपना ही विखंडन कर लेता है। इस निष्कर्ष पर पहुँचने के दो स्पष्ट तर्क हैं। प्रथम, वाणी लेखन का पूर्ववर्ती है। द्वितीय, जब भाषा संकेतों का अवमूल्यन कर देती है, तब लेखन, अवमूल्यित किए गये अर्थ को कहाँ से प्रतिष्ठित कर देता है। पर दरिदा को तो इस निष्कर्ष पर पहुँचना है कि लेखन ही भाषा का वह रूप है जिसको पाने के लिए वह सतत प्रयत्नशील है। इस बात को आगे बढ़ाते हुए दरिदा का यह भी कहना है कि आधुनिक लेखन भी द्विपदीय विपरितार्थों के प्रभाव से विद्रुप हुआ है। अतः भाषा और लेखन दोनों का विखण्डन आवश्यक है। वास्तव में वाणी ही संकेतकों का प्रथम संकेतक है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अतः वाणी के अर्थ–निर्देश संकेतों के भावों एवं मन्तव्यों के अधिक नजदीक होते हैं। दरिदा कहता है कि प्लेटो से लेकर सस्युर तक लेखन की एक ही परिभाषा प्रचलित रही है और वह अरस्तू की इस उक्ति में कही गयी है कि वाणी मानसिक अनुभवों के प्रतीक हैं और लेखन वाणी के प्रतीक हैं (दरिदा 2002:30)। सस्यूर आधुनिक भाषा–विज्ञान का जनक होते हुए भी अरस्तू की उक्त परिभाषा से आगे नहीं बढ़ पाया है। वह भाषा और लेखन को संकेतों की दो भिन्न व्यवस्था कहता है किन्तु वह स्वीकार करता है कि लेखन मौलिक रूप से भाषा को प्रतिनिधित्व देता है। दरिदा भाषा के इस संरचनावादी स्थापना से सहमत नहीं हैं। वह मानता है कि ग्राफिक (लिखावट) व्याकरण के नियम और शब्द केन्द्रितता (लोगो सेन्ट्रिक) लेखन को एक ऐसा अर्थ प्रदान करते हैं, जिसमें स्थायित्व एवं सार्वदेशियता के भाव आ जाते हैं। मूल पाठ इसका निर्देश तो नहीं कर रहे होते पर यह निर्देशित हो जाता है। यहाँ निर्देशितता वस्तुनिष्ठता के रूप में प्रकट होती है। यह वस्तुनिष्ठता लेखक को संकेतित बना कर रख देती है और यही लेखन का अन्त भी है, जिसकी अभिव्यक्ति आधुनिक युग में विशेष रूप से हुई है।

इस अवस्था में क्या कोई ऐसा माध्यम है जो वाणी और लेखन में विद्यमान अन्तराल को प्रकट कर सके और जो संकेतों के यथारूप स्वरूप से परिचित करा सके। दरिदा का विखंडन इसी सूत्र को प्रस्तावित करता है। दरिदा के अनुसार विखंडन का तात्पर्य है — मतभेद (डीफर) होना और उसे स्थगित (डेफर) करना (चैरिस बार्कर 2000:76)। इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि मूल पाठ को उसके निर्देश, संकेत के साथ–साथ अनिश्चितता में भी देखना और ऐसा करते हुए पाठ के अस्पष्ट एवं स्पष्ट अर्थों को समझना। साथ ही तर्क की कसौटी (शब्द केन्द्रितता की दुनियाँ के तर्क) पर खरा न उतरने पर भी अस्पष्ट अर्थ को स्वीकार करना। यहाँ यह प्रश्न किया जाना लाजिमी है कि अस्पष्ट अर्थों को क्यों स्वीकार किया जाय? और क्यों मतभेदों को स्थगित किया जाय? दरिदा इसका कारण यह बताता है कि लेखन कभी भी संकेत का संकेत (दरिदा 2002:43) नहीं हो सकता है। इस तरह वास्तव में दरिदा विखण्डन के माध्यम से सत्य का निषेध नहीं करता है बल्कि सत्य के सार्वभौमिक परिभाषा का विरोध करता है। दरिदा के इस मन्तव्य को अन्तर–पाठीयता (एक मूल पाठ का अध्ययन दूसरे मूल पाठ के साथ करना) के उदाहरण के द्वारा भी समझा जा सकता है। अन्तर–पाठीय व्याख्या पाठों के स्पष्ट अर्थ को तो उजागर करते ही हैं, यह पाठों के अस्पष्ट

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थ को भी अभिव्यक्ति देते हैं। दरिदा यह नहीं मानता है कि किसी मूल पाठ का एक ही अर्थ होता है। मूल पाठ का अर्थ लेखक से पाठक के समक्ष पहुँचते–पहुँचते ही नहीं बदलता, बल्कि इस बदलाव को संकेतों और प्रतीकों की वह दुनियाँ भी बदल देती है जो लेखक की कुछ और पाठक की कुछ और होती है। इसी कारण दरिदा का सुझाव है कि किसी पाठक या आलोचक को मूल पाठ का अर्थ अपने व्यक्तिगत अर्थ में ही लेना चाहिए।

द्रष्टव्य है कि विखंडन में दरिदा ने मतभेद और स्थगन के साथ–साथ विभिन्नता को भी जगह दी है। जब भाषा के बाहर भी संकेतों और प्रतीकों की दुनियाँ है, वह दुनियाँ जहाँ विमर्श रचे जाते हैं और जो भाषायी दुनियाँ से बड़ी है, क्या वह अपना कोई अर्थ रखती है? दरिदा मानता है कि इनमें अर्थ हैं और इस अर्थ को भाषा ने वैसा ही ग्रहण नहीं किया है जैसे की यह है। 'प्लेटोस फॉर्मेसी' नामक अपने निबंध में दरिदा प्लेटो के उस उद्धरण का उल्लेख करता है जहाँ प्लेटो ने लेखन को स्मृति के लिये विष बताया है। वह प्लेटो की इस उक्ति का भी उल्लेख करता है कि वाणी लेखन से श्रेष्ठ है। किन्तु दरिदा यहीं स्थिर नहीं होता, वह एक और कदम बढ़ाता है और 'आर्क राइटिंग' की बात करता है। यह एक ऐसा लेखन है जो वाणी और लेखन दोनों से प्राथमिक है। इसे उन संस्कृतियों में देखा जा सकता है जिनमें लेखन का विकास भाषा से पहले हुआ था। इस तरह दरिदा किसी एक परिघटना या विमर्श के उत्स से लेकर उसके वर्तमान तक पहुँचने के क्रम में आवेष्ठित होते चले गये और व्यतिरिक्त किए गये सभी अर्थों को पहचानने की कोशिश भी करते रहे। दरिदा के लिये टेक्स्ट की अपेक्षा समाज मौलिक है क्योंकि विमर्श वहीं रचे जाते हैं, जो जीवन्त और प्राथमिक होते हैं। अतः जीवन एवं जगत् के अंतिम सत्य को स्थापित या प्रस्तावित करने के तत्त्वमीमांसीय प्रयासों को दरिदा शब्द केन्द्रितता के प्रभाव से आच्छादित लेखन मानता है। ऐसे लेखन में सार्वभौमिकता का आग्रह समाविष्ट हो जाता है जबकि चिन्हों, प्रतीकों और शब्दों के अर्थोत्पादन की प्रक्रिया प्रसंगवश बदलती रहती है। अर्थ निष्पत्ति का यह बदलाव सार्वभौमिक आग्रहों के सर्वथा विपरीत है।

अब विचार करें कि दरिदा के विखंडनवाद का उत्तर–आधुनिकतावाद में इतना व्यापक महत्त्व क्यों हैं और विखंडन आखिर दरिदा चाहते क्यों हैं? क्यों वे मूलपाठों के मुख्यधारीय व्याख्याओं से संतुष्ट नहीं हैं? निश्चय ही यदि हमारी भाषा की सीमा हमारे संसार की सीमा है तो हमें इस भाषायी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सीमा को नये क्षीतिज पर ले जाना होगा। जहाँ, उसमें अर्थोत्पादन की वह क्षमता विकसित हो सके जो हमारी वाणी और लेखन की पहुँच से छूट गये अर्थों के संसार को खोल सके। पर क्या, स्वयं दरिदा के लेखन में और दरिदा के लेखन से प्रभावित अन्य लेखों में मूल पाठों की ऐसी व्याख्या हो पायी है, जहाँ मतभेद को स्थगित करके अस्पष्ट अर्थ को स्वीकार करते हुए उनका अर्थान्वयन किया गया हो। इस दिशा में कुछ प्रमुख उत्तर–आधुनिक नारी विमर्श के लेखन, उपाश्रित अध्ययन, और उत्तर–औपनिवेशिक चिन्तन का उदहरण दिया जा सकता है। किन्तु, इन अध्ययनों में भी कोई ऐसा अध्ययन नहीं है जिसमें विखंडन को सम्पूर्णता के साथ अपनाया गया हो। इन सब में शब्द केन्द्रितता से प्रभावित अवधारणाओं का विखंडन है, मूलपाठ के मतभेद की स्वीकारोक्ति है लेकिन साथ में अपनी ऐसी स्थापनायें भी हैं जो उन्हें पुनः शब्द केन्द्रितता और स्थगन के बजाय उलझाव के संसार में खींच ले जाते हैं। यदि ऐसा जानबुझकर किया गया है तब तो यह दरिदावादी लेखन न होकर मनमाने तरीके से सार्वभौमिकता का खण्डन है। किन्तु यदि ऐसा अनजाने में किया जा रहा है तब यह दरिदा का प्रभाव नहीं है बल्कि सूचना क्रांति के विस्फोट का परिणाम है। इस विस्फोट ने लेखक या पाठक को पूर्व में अज्ञात या अनुलपब्ध सूचनाओं को उपलब्ध करा दिया है और जिसके आलोक में वह मूल पाठ की नई व्याख्या कर रहा है। परन्तु ऐसा करते हुए वह भी शब्द केन्द्रितता के सार्वभौमिक प्रवाह में अपने को शामिल कर ले रहा है।

सम्भवतः इसीलिए विखंडन के माध्यम से भाषा को संकेतों के द्वारा समझने के दरिदा के तर्क की हैबरमास ने कटु आलोचना की है। वह कहता है कि संकेतों का निहितार्थ उनके आपसी संबंधों से ज्ञात किया जाता है, किन्तु इन निहितार्थों के स्पष्टीकरण के लिए भी उन अनेक सन्दर्भों को देखना होता है, जिनका प्रयोग मूल पाठों में हुआ है। क्योंकि, विमर्श निर्माण अनन्त प्रक्रियाओं की एक श्रृंखला है। यह मात्र विभिन्न विमर्शों का एकत्रीकरण नहीं है।[5]

यहाँ यह टिप्पणी करना अनुचित नहीं होगा कि दरिदा के व्यापक लेखकीय संसार में प्लेटो से फूको तक अनेक हस्तियाँ समाविष्ट हैं पर स्वयं दरिदा ने उनके लेखन को विखंडन की विधि से कोई नवीन अर्थ संकेतित किया हो ऐसा भी दिखता नहीं हैं। इस बात को पद्धतिशास्त्रीय भाषा में ही कहा जाय तो यह कहा जाना समीचीन होगा कि बहुचरीय असहयोगी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्राक्कल्पना के आधार पर तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक विधि का प्रयोग करते हुए स्थितिपरक मूल्याँकन किया जाय तो कोई भी अध्येता उस निष्कर्ष तक पहुँच सकता है, जिस पर दरिदा विखंडन के माध्यम से पहुँचने का दावा करता है।

विखंडन की धारणा में यह विश्वास निहित है कि संकेतों के अर्थ–सन्दर्भ भी बदलते रहते हैं। दरिदा के लेखन और उसके विखंडन को समझने के लिए दरिदा के समय के 'व्यक्ति' को एक संकेत के रूप में ग्रहण यह विचार करना होगा कि वह कैसा व्यक्ति है। रेनाशाँ के संकेतक इसे अ–ऐतिहासिक, अ–सामाजिक, अहं केन्द्रित, स्वार्थी और विवेकशील प्राणी के रूप में चित्रित करते हैं। स्वयं दरिदा के समय में वह व्यक्ति अजनबियों के बीच अपरिचित (महानगरीय जीवन के संकेत), असंतुष्ट (व्यवसाय और लाभ–हानि के संकेत), पलायनवादी (कर्त्तव्या–कर्त्तव्य के संकेत) और शक्तिकामी (जीजिविषा के संकेत) है। रेनाशाँ का मानव ऐसा क्यों हो गया है? इस प्रश्न के अनेक उत्तर हैं। पर इस प्रश्न का दरिदा के भाषायी विमर्श के भीतर से उत्तर देने पर यह कहना होगा कि रेनाशाँ के मानव ने सब पुरानी चीजों से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया परन्तु वह सब भाषा के जरिए फिर से उसकी दुनियाँ में वापस आ गयी। फलतः वर्तमान संकेतकों के मध्य संकेतित मानव के लिए धीरे–धीरे उन संकेतों और प्रतीकों को समझना अपरिहार्य होता गया, जिन्हें वह विस्मृत कर देना चाहा था। पर यह मानव अपने रेनाशाँ के स्वभाव (और प्रकारान्तर रूप से पूँजीवाद तथा उपनिवेशवाद से अर्जित लाभ) को छोड़ने को भी तत्पर नहीं है। यह उलझाव ही दरिदा के समय की मुख्य हकीकत है। वास्तव में इसी हकीकत को दरिदा ने मूलपाठों को समझने का आधार, विखंडनवाद के माध्यम से उत्तर–आधुनिक चिन्तन में बना दिया है।

वस्तुतः रेनाशाँ का मानव अपने अस्तित्व का उत्सव अपने उस होने में मनाना चाहता है जहाँ संकेतों का अर्थान्वयन वह निज के सन्दर्भ में कर सके। संकेतों का ऐसा अर्थान्वयन जो उसकी जरूरतों के निज–सन्दर्भ में उसे अतीत के अस्तित्वात्मक उत्सव के आनन्द में पहुँचा दे और जब आवश्यकता हो तब वर्तमान के अस्तित्वात्मक उत्सव के आनन्द में वापस ले आए। जाहिर है कि तत्त्वमीमांसीय सीमाएँ उसे ऐसा करने से रोकती हैं, अतः उन्हें स्थगित किया जाना अपेक्षित है। किन्तु तत्त्वमीमांसीय मान्यताओं से उसे जब अपने अस्तित्व का आनन्द प्राप्त होने की सम्भावना हो तो उसे स्वीकार करने की गुंजाइश भी बनी रहे। दरिदा के विखंडन में रेनाशाँ के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मानव को ऐसी ही दुधारी तलवार प्राप्त हो जाती है जिसमें संकेतों के निजरूप के अर्थों और संकेतों के अन्य सन्दर्भगत अर्थों के अर्थान्वयन में वह स्वयं प्रामाण्य है। रेनाशाँ के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिणतियों में उपाश्रित हुए लोगों को भी विखंडन में अपने अर्थ–सन्दर्भों एवं हितों के समावेशन की प्रतीति होती है और वे अपनी शक्ति काम्यता की प्रत्याशा को इसमें पूरा होते हुए देखते हैं।

ज्ञान का पुरातत्त्व (आर्कियोलॉजी) एवं आनुवांशिकी (जीनियोलॉजी)

उत्तर–आधुनिकतावाद विचार करने का एक तरीका भी है जो सत्य, विवेक, पहचान, वस्तुनिष्ठता, मुक्ति एवं विकास के सार्वभौमिक धारणा आदि की महान वृत्तान्तों के आधार पर व्याख्या की एकरूपीय पद्धति के शास्त्रीय तरीकों पर संदेह करता है। पुनर्जागरण के इन प्रतिमानों के विपरीत उत्तर–आधुनिकतावाद इस विश्व को जड़ विहीन, अस्थिर, अनिश्चित, केन्द्रविहीन और आकस्मिक मानता है। यह एक सांस्कृतिक शैली भी है जो उथली, विकेन्द्रित एवं बेमेल है। इसमें गांभीर्य नहीं है और यह उच्च तथा लोकप्रिय के बीच चक्रमणशील है (टेरी इग्लटन 1996:VII)। इग्लटन के उक्त विचार में यह स्पष्ट नहीं है कि पुनर्जागरण के विचार शैशवावस्था में जैसे थे और प्रौढ़ावस्था में जैसे हो गए उनमें एकरूपता भी है या कोई अन्तराल है। इस प्रश्न के निश्चित ही दो उत्तर हैं और दोनों ही पर्याप्त प्रचलित हैं। प्रथम, यह कि पुनर्जागरण के मूल्य अपनी शैशवावस्था से ही विवादित रहे हैं। द्वितीय, यह कि पुनर्जागरण के मूल्य अपनी प्रगतिशीलता को कालान्तर में खोने लग गये। उत्तर–आधुनिक चिन्तन दूसरे मत के अधिक समीप है। फूको भी उद्‌विकास काल के पुनर्जागरण को मानवीय स्वतन्त्रता का पक्षधर मानता है। पर वह यह भी कहता है कि प्रबोध–आन्दोलन के ज्ञान का एक दूसरा पहलू भी है और वह है मनुष्य को नियन्त्रण में रखना। रेनाशाँ की यह परिणति कैसे हुई? इस प्रश्न के उत्तर में हमें यह देखना होगा कि निजता की रक्षा के साथ प्रगतिशीलता के सूत्र वास्तव में रेनाशाँ में कहाँ स्थित हैं। यह सूत्र समाज से कटे हुए प्राणी और अणुवादी समाज की धारणा में है। यहाँ स्वतन्त्रता है पर दायित्व नहीं है। निजता है पर सामाजिकता नहीं है। यह इस अर्थ में प्रगतिशीलता है कि यहाँ इतिहास बोध एवं सांस्कृतिक मान्यताओं का जकड़न नहीं है। किन्तु निजता, स्वतन्त्रता और प्रगतिशीलता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की यह उड़ान जैसे ही यथार्थ के धरातल पर उतरता है, यकायक लुप्त हो जाता है। क्योंकि, समाज के यथार्थ धरातल पर कोई भी समाज अणुवादी नहीं होता है, न ही समाज में किसी प्रकार की निर्द्वन्द्व निजता ही होती है और न ही पूरी तरह से सामाजिकता को उच्छेदित कर देने वाली प्रगतिशीलता होती है।

रेनाशाँ ने मुक्ति के दावों के साथ भी जब अपने को आधुनिक आर्थिकी एवं राजनीतिकी में स्थापित करने का उपक्रम आरम्भ किया तब यह भी धीरे-धीरे बन्धन के नए आयामों का समीकरण भी गढ़ने लगा। दो शताब्दियों के बीतते-बीतते जहाँ आधुनिकता के प्रतिगामी प्रभाव बढ़ते जा रहे थे वहीं लोकतन्त्र, तकनीक, प्रकृति पर नियन्त्रण के बढ़ते ज्ञान के विस्तार आदि मानवीय मुक्ति के रेनाशाँ द्वारा घोषित कार्यक्रम को भी नयी क्षीतिज तक विस्तृत कर रहे थे। जहाँ पहुँचकर 'पश्चिम का मानव' आधुनिकता के मुक्ति के उपक्रम को छोड़े बिना इसके पार्श्व-प्रभावों से आजाद होने के लिए बेचैन दिखता है। इस बेचैनी से उसे मुक्ति किस तत्त्व के द्वारा प्राप्त हो सकती है, कदाचित् यहाँ शक्ति के अतिरिक्त कोई और विकल्प हो नहीं सकता। पर अब (नॉलेज सोसाइटी) शक्ति ज्ञान में है। ऐसे में ज्ञान के शक्ति समीकरणों को आधुनिकता से पीड़ित मानव के लिए समझाना आवश्यक कार्य है। इस कार्य को वास्तव में मिशेल फूको ने पूर्ण किया।

फूको उत्तर-आधुनिक चिन्तन में ज्ञान के शक्ति समीकरणों को समझने के लिए पुरातत्त्व एवं आनुवांशिकी की पद्धति का प्रयोग करता है। ज्ञान का पुरातत्त्व एवं आनुवांशिकी विमर्श के व्याख्या की पद्धतियाँ हैं जो विमर्श के परिप्रेक्ष्य को परत दर परत अनावृत करते हुए ज्ञान एवं शक्ति के मध्य सम्बन्धों का पर्दाफाश करती है। 'आर्डर ऑफ थिंग्स' के लेखन के क्रम में ही फूको ने पुरातात्त्विक पद्धति को प्रस्तावित कर दिया था। इस पुस्तक के लेखन के तीन वर्ष पश्चात् व्यवस्थित और केन्द्रीय विषय बनाकर फूको ने ज्ञान के पुरातत्त्व की अवधारणा को 'द आर्कियोलॉजी ऑफ नॉलेज में प्रस्तुत किया। ज्ञान के पुरातत्त्व की यह मान्यता है कि विचारों की व्यवस्था और ज्ञान (फूको के शब्दों में डिस्कर्सिव फॉरमेशन) व्याकरण और तर्क से परे उन नियमों से अधिशासित होते हैं जो व्यक्ति और विषय की चेतना के निचले स्तर पर एक विशेष समय में परिचालित हो रहे अवधारणात्मक संभाव्यताओं की सीमाओं को सुनिश्चित करते हैं। इसी कारण फूको का प्रस्ताव है कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विमर्शों का पाठ बौद्धिक रूप से पुरातात्त्विक खोज की तरह किया जाना चाहिए। क्योंकि, परम्परागत ऐतिहासिक एवं संवृत्तिशास्त्रीय व्याख्याओं के द्वारा सतह पर विद्यमान विषय एवं वस्तु की जानकारी जरूर प्राप्त हो सकती है किन्तु व्यक्ति एवं विषय के अचेतन स्तर पर व्याप्त प्रभावों को पकड़ना इससे सम्भव नहीं है। परन्तु मात्र पुरातात्त्विक पद्धति के प्रयोग से ही एक प्रकार के चिन्तन से दूसरे प्रकार के चिन्तन में संक्रमण को और वर्तमान धारणाओं में हो रहे आकस्मिक परिवर्तनों को ठीक से समझा नहीं जा सकता है। इस कमी को पूरा करने के लिए 'डिसिप्लिन एण्ड पनीश' में फूको एक नयी पद्धति, आनुवांशिकी की स्थापना करता है।[6]

ज्ञान के पुरातत्त्व एवं आनुवांशिकी के परिचयात्मक अवलोकन से गहरे उतर कर यदि प्रश्न पूछा जाय कि विमर्श के धरातल पर जिस व्यक्ति या विषय की प्रतीति है उससे नीचे उतरने की क्या आवश्यकता है? फूको के पास इसके लिए बहुत स्पष्ट उत्तर है। वह कहता है कि शक्ति के प्रति सहनशीलता और इसकी सफलता उसी अनुपात पर निर्भर करती है जिस अनुपात में वह अपने को छिपा लेने की व्यवस्था में दक्ष होता है (मिशले फूको 1990:86)। शक्ति के इस काबिलियत के कारण ज्ञान में और सम्पूर्ण सामाजिक सम्बन्धों तथा संरचनाओं में जो शक्ति छिपी होती है वह पहचान में उस रूप में नहीं आती है जैसी की वह वास्तव में होती है।[7] ज्ञान के पुरातत्त्व एवं आनुवांशिकी के माध्यम से फूको शक्ति के सूक्ष्म एवं व्यापक गतिकी को पहचानने का दावा करता है जो ज्ञान के माध्यम से प्रकट होती है। अपने दावों को वह यौनिकता एवं सुधार गृहों में पागलों तथा डॉक्टरों के मध्य शक्ति–सम्बन्धों के अध्ययन के निष्कर्षों से परिपुष्ट भी करता है। पर इन सबका जो व्यापक परिप्रेक्ष्य वह बनाता है उसमें पहचान का प्रश्न केन्द्रीय रूप ग्रहण कर लेता है। वह मानता है कि शक्ति शासितों पर पहचान का आरापेण करती है और जिन पर इसका आरोपण किया जाता है वे प्रतिरोध के माध्यम से (जो कि स्वयं शक्ति का ही एक रूप है) इस शक्तिं को निष्प्रभावी बनाते हैं। यह सब उतने प्रकट रूप में नहीं होता है जैसा कि शास्त्रीय इतिहास लेखन में उभर कर सामने आता है। कम से कम आधुनिक युग में यह जितना सतह के भीतर चल रहा होता हैं उतना सतह के ऊपर नहीं। और चूँकि शक्ति की अपनी सफलता अपने को छुपा लेने में है अतः शक्ति की क्रियाशालीता प्रभाव के रूप में जितनी प्रकट होती है उतनी बल के रूप में नहीं।[8] यह विशेषीकृत ज्ञान के माध्यम से निष्पादित होती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चूँकि, विभिन्न काल और परिप्रेक्ष्य में आरोपण एवं प्रतिरोध के स्वरूप अलग–अलग होते हैं, फलतः ज्ञान का सान्दर्भिक स्वरूप भी अलग–अलग होता है (मिशेल फूको 1984:249)। यह तात्त्विक कालातीत या सार्वभौमिक न होकर समय एवं स्थान सान्दर्भिक होती है।

वस्तुतः सार्वभौमिक ज्ञान का सिद्धान्त स्वयं अपने आप में उस शक्ति संबंध के ताने–बाने के अनुरूप व्यक्ति एवं विषय को ढालने का उपक्रम है जो प्रभावशाली वर्गों के हितों के अनुरूपण में निर्मित हुआ है। इससे जो नैतिक अनुशास्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उसमें व्यक्ति की एक स्थिर पहचान बन जाती है। क्या रेनाशाँ का मानव एक स्थिर पहचान में आरोपित रूप से बंधना चाहेगा। वह कदाचित् किसी भी अधीनता को स्वीकार नहीं करेगा। किन्तु, पश्चिम में रेनाशाँ के मूल्यों के आलोक में जिन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक आदि व्यवस्थाओं का आविर्भाव हुआ उनमें शासित हों या शासक, दोनों ही निश्चित पहचान में तो बंध ही गये। अब इस बन्धन को तोड़ा कैसे जाय और निर्द्वन्द्व स्वतन्त्रता की चाहना वाले व्यक्ति की पुनर्वापसी कैसे की जाय? जरूरत थी कि व्यक्ति के भीतर घुसकर उसकी चेतना को विभाजित कर दिया जाय और उसे अपनी सीमाओं के गिरफ्त से आजाद किया जाय। यह तभी सम्भव हो सकता था जब उसे बताया जाय कि जिस शक्ति संबंधों की दुनियाँ और ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में वह जी रहा है वह उपर से नहीं थोपी गयी हैं।[9] बल्कि, वह खुद ही उसका प्रारम्भिक सूत्र है जिसके बीज उसकी चेतना की विनिर्मितियों के निचले धरातल पर ही भरे पड़े हैं। ये सभी हैं तो परस्पर असम्बद्ध पर उनमें जो सम्बद्ध गतिशीलता है वही उपर के शक्ति संबंधों को वैधता और गति प्रदान करना है। रेनाशाँ के मानव के पुनर्वापसी के इस कार्यक्रम को फूको ने ज्ञान के पुरातत्त्व एवं आनुवांशिकी के माध्यम से सुविचारित एवं सुनियोजित तरीके से पूर्ण किया है।

अब फूको के विमर्श की ही पुरातात्त्विक एवं आनुवांशिकीय पद्धति से विश्लेषण करते हुए कुछ प्रश्नों का उत्तर समझना यहाँ समीचीन एवं रोचक होगा। अपने समय के शक्ति संबंधों एवं ज्ञान के स्वरूप से फूको असंतुष्ट क्यों हैं? यह असंतुष्टि अकादमिक ही है या इसके सामाजिक–आर्थिक निहितार्थ भी हैं? क्यों फूको कई बार ग्राम्शी की भाषा बोलने पर भी कोई मार्क्सवादी–समाजवादी प्रतिकृति तैयार नहीं किये? पहले दो प्रश्नों के उत्तर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में पुरातात्त्विक पद्धति और अन्तिम प्रश्न पर आनुवांशिकीय पद्धति का विमर्श खड़ा हो सकता है। वास्तव में तीसरा प्रश्न फूको के विचारों में तारतम्य विहीनता से सरोकार रखता है। यद्यपि यह फूको के विचारों में आकस्मिक है।

इस आकस्मिकता के सूत्र आनुवांशिकी से प्राप्त हो सकते हैं। फूको अपने समय की शक्ति संरचना से असंतुष्ट क्यों है और उसका उद्देश्य मात्र अकादमिक है या कुछ और? इसे समझने के लिए फूको की चेतना के निचले धरातल पर चल रहे विषयों को समझना होगा। ऐसे विषयों में फूको के बचपन, पारिवारिक पृष्ठभूमि, मित्र मण्डली, उसके समक्ष प्रस्तुत होने वाले वैचारिक प्रश्नों के स्वरूप, उसका विद्यालय, उसके शिक्षक, उसके पड़ोसी, उसके अभाव और उसकी उपलब्ध्यिाँ, उसे प्राप्त पुरस्कार एवं दण्ड, प्रशंसा एवं निंदा इत्यादि परिगणित किये जा सकते हैं। इतना ही नहीं, उसके द्वारा प्राप्त की गई उपलब्धियों के संतोष और न प्राप्त किए गये वांछित से उपजा असंतोष तथा उसके जीवन के सहयोग एवं संघर्ष इत्यादि तक भी उन विषयों का विस्तार किया जा सकता है। सच कहें तो इस सूची का समापन सम्भव नहीं है क्योंकि चेतना का निर्माण इन्हीं अन्तहीन संसूचकों से गुजरते हुए होता है। इसमें कब किसी व्यक्ति या विषय का संप्लव (फूको से भिन्न अर्थ में) हममें हो जाता है और कब हम किसी व्यक्ति या विषय में संप्लवित हो जाते हैं, इसका पता ही नहीं चलता है। कम से कम उसी समय और उसी धरातल पर तो नहीं ही चलता है। वास्तव में इसका पता हमें तब चलता है जब हमारी पूर्ववर्ती चेतना के महल को कोई दूसरी चेतना झकझोर देती है। इनमें से अनेक ऐसी होती हैं, जहाँ हम झकझोरे जाने का उत्सव मनाते हैं और अनेक ऐसी होती हैं जहाँ हम अपने झकझोरे जाने को छिपाते हैं। अतः कुल मिलाकर इस प्रसंग में ज्ञान के पुरातात्त्विक अन्वेषण के फूको के प्रस्ताव के सन्दर्भ में एक ही बात कही जा सकती है, वह यह कि ज्ञान के पुरातात्त्विक अन्वेषण में जहाँ चेतना के निचले स्तर तक की विनिर्मितियों को खोजना होता है, यह कार्य एक 'द्रष्टा' ही कर सकता है। या यह कह लें कि इस पद्धति से अपनी चेतना की अर्न्तयात्रा की जा सकती है, परन्तु इस पद्धति से भाषा, समाज एवं संस्कृति को समझने का प्रयास मृग मरीचिका के ही समान है। जिसमें अन्ततः अध्येता अपने आप को ही ओझल कर लेगा। फूको के चिन्तन में किसी द्रष्टा की सम्भाव्यता है नहीं और न ही उसे मार्क्सवादी विमर्श स्वीकार्य है (कॉलिन गार्ड, 1980 :116, 117)। तब बचता क्या है?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह बचा हुआ तत्त्व ही फूको के विमर्श की विच्छिन्नता है जिसे फूको व्यक्त नहीं करता और वह है उत्तर–आधुनिक समाज में व्यक्ति की चेतना को मूल्य विहीन एवं सातत्य विहीन बना देना। क्योंकि रेनाशाँ के मानव की पुनर्वापसी अन्ततः एक अणुवादी समाज में ही सम्भव है और वहाँ व्यक्ति में मूल्यबोध एवं व्यवहार में सातत्यता न तो अपेक्षित है न ही वांछित है। पर इसकी परिणति जिसमें हो रही है वह समाज उत्तरवर्ती पूँजीवाद के सांस्कृतिक तर्क[10] को ही प्रतिष्ठित करता हुआ दिखाई देता है। जहाँ तकनीक का उद्देश्य पूर्व की तरह उत्पादन बढ़ाना नहीं रह गया है, अपितु माँग बढ़ाना तकनीक का उद्देश्य बन गया है (फ्रेडरिक जेमेसन 1985:111–25)। फलतः अब समाज दिशा विहीन होकर रह गया है। यहाँ वही सही है जो शक्ति से परिपूरित है। नैतिकता और अनैतिकता का कोई सार्वभौम मापदण्ड नहीं है। सबके लिए ग्राह्य जीवन का कोई उद्देश्य नहीं है। हमें भी इस स्थिति की रेनाशाँ के मानव या नीत्शे के महामानव के आगमन की प्रत्याशा में खुशी मनानी चाहिए। वह महामानव जिसका कोई इतिहास, संस्कृति, दायित्व आदि नहीं है, वह आखिरकार रेनाशाँ का ही अ–ऐतिहासिक एवं अ–सामाजिक मानव हो सकता है। अतः उत्तर–आधुनिकतावाद इसी मानव के तार्किक विवेक की ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय परिणति है। विडम्बना यह है कि इस तथ्य को समझे बिना उत्तर–आधुनिकता को रेनाशाँ के ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय मान्यताओं के खण्डन के रूप में स्वीकार किया जाता है।[11] जबकि, वास्तविकता यह है कि उत्तर–आधुनिकतावाद रेनाशाँ के ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय मान्यताओं का आधुनिकतावाद की अपेक्षा अधिक सटीक एवं तार्किक निष्पत्ति है।

सूत्रवत भारतीय प्रत्युत्तर

श्रीमद् भगवत्गीता में अर्जुन जब विषाद में पड़कर[12] युद्ध न करने के पक्ष में तर्क देते हुए 'कुल धर्माः सनातनाः' (श्रीमद् भगवत्गीता, 1:40) का तर्क देता है और कृष्ण इसका यह कहते हुए खण्डन करते हैं कि "अंशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे" (श्रीमद् भगवत्गीता, 2:11) तब कृष्ण एक नैतिकता का प्रतिपादन करते हैं। जब उच्च वर्गों में डायोनिसियाई शक्ति का ह्रास नहीं हुआ है तब की जो श्रेष्ठ नैतिकता है (यद्यपि यह श्रीमद् भगवत्गीता का अर्थ संकोच है), कृष्ण उसे ही अर्जुन के लिए श्रेष्ठ नैतिकता (मात्र रूपक की तरह लें, ऐतिहासिक सत्य की तरह नहीं) बता रहे हैं। अर्जुन अपने तर्क में अपोलियाई नैतिकता का (निम्न वर्ग की नैतिकता) का उदाहरण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दे रहा है। कृष्ण गीता के विमर्श के बरक्स अर्जुन की चेतना के भीतर घुसकर उसे विभाजित नहीं करते अपितु सक्रमण के प्रभाव को दूर करते हैं। उसे अपोलियाई तर्कों के जकड़न से मुक्त कर देते हैं। फूको भी लोगों को मुक्त कराना चाहता है पर कृष्ण की तरह न तो रास्ता दिखाता है और न ही संबल बनता है। कृष्ण अर्जुन के सारे बन्धन तोड़कर उसे कहते हैं — तमेव शरणं गच्छ' (श्रीमद्भगवत्गीता, 18 : 62)। फूको भी और दरिदा भी सब कुछ विखंडित कर देते हैं और शायद ''तमेव शरणं गच्छ'' ही कहते हैं (क्योंकि रेनाशाँ के व्यक्ति के लिए स्व से इतर कोई सत्ता नहीं हो सकती। इसी कारण उत्तर–आधुनिकतावादी भविष्य का कोई निर्देश नहीं देते हैं, न ही कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य, श्रेय या प्रेय बताते हैं)। परन्तु, कृष्ण ने अर्जुन के भीतर शक्ति का संचार किया था। फूको और दरिदा जो कुछ भी और जैसी भी शक्ति व्यक्ति के पास बची थी उसका विध्वंस कर देते हैं।

राजनीतिशास्त्र विभाग,
आर्य महिला पी.जी. कालेज
(काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)
वाराणसी–221002

पाद टिप्पणी –

1. *नीत्शे के निहिलिज्म की व्याख्या करने के क्रम में पेनीविट्ज उत्तर–आधुनिकता शब्द का प्रयोग करता है। नीत्शे सामाजिक प्रगति की नियतिवादी व्याख्या एवं (हीगल एवं डार्विन) ईसाई मत के परमार्थनाद से असंतुष्ट विचारक है। वह मानता है कि नैतिकता या अनैतिकता का कोई वस्तुनिष्ट मापदण्ड नहीं हो सकता है। नैतिकता को वह शक्ति से संपुष्ट और अनैतिकता को निर्बलता का प्रकट रूप कहता है। नीत्शे कांट के इन्द्रियानुभविक ज्ञानमीमांसा की आलोचना को एक नया आयाम देता है। कांट के अनुसार हम पदार्थों के 'निज–रूप' को नहीं जान सकते हैं, क्योंकि पदार्थ हमारे इन्द्रियों के 'ज्ञान–विषय' बनने में ज्ञानेन्द्रियों तथा बुद्धि के नियमों से इस तरह प्रभावित हो जाते हैं, जहाँ पदार्थों के निज–स्वरूप का ग्रहण यथावत नहीं होता है। अतः हमारे ज्ञान में इन्द्रियानुभविकता एवं बुद्धि के नियम ही अनुस्युत होते हैं और यही हमारे ज्ञान को सार्वभौमिकता प्रदान करते हैं।*

नीत्से ज्ञान की सार्वभौमिकता के कांटवादी तर्क से आगे बढ़ते हैं। वे मानते हैं कि जिन्हें कांट ज्ञान के सार्वभौमिक आग्रह मान रहे हैं वे स्वयं हमारी रूचियों, मूल्यों एवं संकल्पों से प्रतिबन्धित हैं, अतः हम सत्य को नहीं जान सकते हैं। आखिरकार हम सत्य को जानना ही क्यों चाहते हैं? नीत्शे का उत्तर है कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनिश्चितता में जीवन की प्रतीति नहीं है। जबकि ज्ञान इस जगत् को पूर्वानुमेय एवं व्यवस्थित बनाता है। इसी कारण इस जगत् को एवं मानव के ज्ञान को नीत्शे जीने के संकल्प का परिणाम बताता है। चूँकि, जीवन स्वयं में आत्मसातिकरण, विस्तार एवं शक्ति का संकल्प है और आत्मसातिकरण तथा विस्तार स्वयं में शक्ति के प्रतिफलन हैं, अतः शक्ति का संकल्प ही सार्वभौम सत्य है और यही हमारे ज्ञान के स्वरूप को निर्धारित करता है। अलग–अलग लोगों में शक्ति के संकल्प की भिन्नता के कारण समाज की संरचना पिरामिड की भाँति होती है जिसमें उपर के व्यक्ति शासक एवं नीचे के व्यक्ति दास होते हैं। नीत्शे का कहना है कि इन दोनों वर्गों की मूल्य प्रणाली शक्ति संकल्प की भिन्नता के कारण अलग–अलग प्रकार की होती है। जहाँ उच्च वर्गों के लोगों के व्यक्तित्व की क्षमता तथा इस क्षमता से जीवन के प्रति और जगत् के प्रति व्युत्पन्न सहज बोध उनके मूल्य प्रणाली का निर्माण करते हैं, वहीं निम्न वर्ग के लोगों के मूल्य प्रणाली उच्च वर्गों के मूल्यों के प्रति प्रतिक्रिया के परिणाम होते हैं। नीत्शे ने ईसाई मत के मूल्यों को निम्न वर्ग के मानसिक ग्रन्थियों का परिणाम बताया है जिसमें उच्च वर्ग के व्यक्तियों को नीचे घसीटने का कुत्सित प्रयास समाविष्ट होता है। जबकि प्रगति के लिए उच्च वर्ग के मूल्यों को प्रतिष्ठित करने (इसी सन्दर्भ में नीत्शे को नॉजीवाद से जोड़ा जाता है) की आवश्यकता है। इस दृष्टि से नीत्शे बाइबिल की अपेक्षा मनुस्मृति को श्रेष्ठ ग्रन्थ बताता है।

अब तीन प्रश्नों पर विचार करें। प्रथम, क्यों ईश्वर मर गया है या लोगों ने उसे मार डाला है? नीत्से का उत्तर होगा कि लोगों में शक्ति की लिप्सा बढ़ गयी है और ईसाई मत इस लिप्सा का पूरक नहीं रह गया है। द्वितीय, संचारात्मक तर्क का सिद्धान्त (हैबरमास) किस प्रकार आधुनिकता के उपक्रम को पूर्ण करेगा? उत्तर होगा कि यह शक्ति की लिप्सा को पूर्ण करने में उच्च एवं निम्न वर्ग के अन्तराल को भर देगा, जहाँ शक्ति सम्बन्धों में किसी को अपनी प्रबलता के आरोपण का अवकाश नहीं होगा। क्योंकि, सबके पास संचार के साधन उपलब्ध होगें और जिसके प्रयोग से उत्पन्न मूल्य–प्रणाली प्रतिक्रियात्मक न होकर सहज होगी। तृतीय, उत्तर– आधुनिकतावादी विमर्श आधुनिकतावाद का समर्थक है, विरोधी है या अगला पड़ाव है? वास्तव में यह भी आधुनिकतावाद की तरह मुक्ति कामी है। परम्परावादी एवं मध्ययुगीन जड़ता से मुक्ति का आधुनिकतावादी उपक्रम सार्वभौमिक दावों के बावजूद सम्पन्न वर्गों को ही लाभ प्रदान करने में सफल रहा। अपनी सफलता को संरक्षित रखने के लिए इस वर्ग ने जिस मूल्य व्यवस्था, अर्थनीति एवं राजनीतिक प्रणाली एवं इससे जुड़े अवधारणाओं का सृजन किया उसके भीतर हाशिये पर खड़े लोगों को मुक्ति की अपेक्षा दासता प्राप्त हुई। अतः आधुनिकतावादी मुक्ति के लक्ष्य को विस्तृत आधार देना आवश्यक प्रतीत होने लगा। किन्तु, यह प्रतीति ऐसे समय में हुई जब आधुनिकता में सीमान्तीकृत लोगों के जीवन, उनकी परम्परा, मूल्य और यहाँ तक कि शक्ति की लिप्सा को संक्रमित कर दिया था। संक्रमण के इस दौर में जो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संकर हो चुका था वही सत्य था, अर्थात् सबके अपने–अपने सत्य थे। उत्तर–आधुनिकता इसी दशा को प्रतिध्वनित करने वाला विमर्श है।

2. उत्तर–आधुनिक चिन्तन को जन्म देने में ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं इस शब्द के अर्थ के विभिन्न विस्तार को, मारग्रेट रोज (1991) एवं टीम उड्स (1999) की रचनाओं में प्रस्तुत किया गया है।

3. वैसे तो उत्तर–आधुनिक चिन्तन जब एक फैशन की तरह प्रचलित हो गया तब दुनियाँ के सभी कोने से अपनी–अपनी विरासत में इसकी जड़ों को खोजने का दौर चल पड़ा। जैन दर्शन के स्याद्‌वाद और बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद को उत्तर आधुनिक तर्क का समानार्थी एवं हिन्दू धर्म को उत्तर–आधुनिक धर्म बताने वाले लेखकों की भी कमी नहीं है। परन्तु यदि ज्ञान की स्थानीयता का आग्रह उत्तर–आधुनिक चिन्तन की विशिष्टता है तब स्वयं यह वैशिष्टय ही उत्तर–आधुनिक मान्यताओं के साँचे में गैरं यूरोपीय समाज एवं ज्ञान–परम्परा को ढालने का समर्थन नहीं ही करेगा। क्योंकि स्थानीयता की दृष्टि से यह यूरोपीय और अवस्था (कन्डीशन) की दृष्टि से परा–औद्योगिक समाज की उपज है। फिर भी, यदि पाश्चात्य प्रभावों के भूमण्डलीय आच्छादन के परिप्रेक्ष्य में उत्तर–आधुनिकता के तर्कों के आलोक में गैर यूरोपीय समाज के विमर्शों का 'विखण्डन' किया जाता है तब आच्छादित स्वरूप एवं निज–रूप में अन्तर तो देखना ही होगा। आच्छादित स्वरूप के विखंडन के क्रम में 'प्राच्यवाद' (एडवर्ड सईद) और निज–रूप के विखंडन में दरिदा का अलग–अलग प्रयोग करके शायद ही अध्ययन हुआ हो। यदि ऐसे समाज वैज्ञानिक अध्ययन हुए भी हैं तो मैं सहज ही अपनी अनभिज्ञता स्वीकार करता हूँ।

4. विज्ञान एवं तकनीक का समाज एवं संस्कृति पर मात्र यह प्रभाव नहीं होता है कि यह मनुष्य को प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की अहैतुकी शक्ति देता है, बल्कि यह सामाजिक एवं सांस्कृतिक विचारों का भी रूपान्तरण करता है। देखें, (फ्रिट ज्योफ कॉपरा : 1982)।

5. वास्तव में हैबरमास विमर्श निर्माण को अनन्त प्रक्रियाओं की एक श्रृंखला मानता है जो मात्र संकेतकों की अन्तःक्रिया तक ही सीमित नहीं है। (जुर्गेन हैबरमास 1981)। इनं अनन्त प्रक्रियाओं में लेखक और पाठक भी एक घटक हैं एवं संस्कृति के अन्य उपादान भी घटक हैं।

6. यह शब्दावली नीत्शे के 'जीनियोलॉजी ऑफ मोरल्स' के प्रभाव से ली गई है। विशेषकर जहाँ नीत्शे पतितता, सांसारिकता, गौरवहीनता आदि की चर्चा करता है, जिनका इतिहास के भव्य प्रगतिशील योजना में स्थान नहीं है। ज्ञान का आनुवांशिकीय अध्ययन यह बताता है कि विचारों की कोई व्यवस्था अपरिहार्य विवेकशीलता की प्रवृत्ति का ही परिणाम नहीं होती, यह इतिहास के आकस्मिक परिवर्तन का भी परिणाम होती है। वैसे तो फूको जो भी व्याख्या प्रस्तुत कर लें किन्तु हकीकत यह है कि ज्ञान का पुरातत्त्व जहाँ ज्ञान के शक्ति सम्बन्धों के सूत्र को ओझल पाता है, या ज्ञान और शक्ति सम्बन्ध जहाँ एक दूसरे से ताल–मेल नहीं रख पाते वहाँ की स्थिति को ज्ञान की आनुवांशिकी भी हल नहीं कर पाती।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तभी तो फूको को इतिहास में आकस्मिक परिवर्तन के तर्क को उपस्थित करना पड़ा। यहाँ नीत्शे का सहारा लेना भी पर्याप्त नहीं है।

7. इस प्रसंग में तुलनात्मक रूप से देखने पर 'अधिसंरचना' में सहमति के माध्यम से वैधता उत्पन्न करने वाले तत्त्वों (स्कूल, संस्कृति, धर्म इत्यादि) की जो व्याख्या एन्टोनियो ग्राम्शी ने की है और उसी का एक अलग फलक फूको में मिलता है।
8. ऐतिहासिक विश्लेषणों के मानवशास्त्रीय रूझान को देखेने से (जिसकी फूको आलोचना करता है) पता चलता है कि इनमें शक्ति सम्बन्धों की व्याख्या में शक्ति को बल के रूप में ज्यादातर देखा गया है। जबकि, प्रभाव का क्षेत्र उससे व्यपक है पर उसकी उपेक्षा हुई है। फूको की पुरातात्त्विक पद्धति इस खाई को पाटने का भी दावा करती है (मिशेल फूको 1969:16)।
9. आधुनिक युग में मैक्स बेबर के विचारों के इर्द-गीर्द जिस शक्ति संरचना एवं शक्ति संबंधों की चर्चा होती रही है, उसमें शक्ति को उच्च और निम्न के संबंध के तर्ज पर देखा जाता रहा है। जहाँ शक्ति का उपर से नीचे की ओर अवरोहण है। फूको के विमर्श में शक्ति का नीचे से उपर की ओर आरोहण है। यह शक्ति विसरण की संरचनाओं में हैं। इस संबंध में फूको द्वारा वर्णित विसरण की संरचनाओं के अध्ययन के लिए देखें (नाथन विडर : 2004)।
10. यह उत्तर-आधुनिकतावाद के समाजवादी आलोचक फ्रेडरिक जेमेशन की अवधारणा है। वह उत्तर आधुनिकतावाद को एक प्रकार का नवीन अधिनायकवाद मानता है जो कि पूँजीवाद का ही एक रूप है और जिसका स्वरूप आर्थिक न होकर सांस्कृतिक है (फ्रेडरिक जमेशन :1985)। पूँजीवाद के इस चरण को सांस्कृतिक उपनिवेशवाद का तृतीय चरण माना जाता है।
11. उत्तर-आधुनिक नारीवाद का तर्क इसी ताने-बाने के साथ बुना गया है। देखें, (सुसन जे हेकमैनः 1990)।
12. कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का संशय कि स्वजनों से युद्ध करें या न करें। स्वजनों से युद्ध करके 'स्वजन नाश' का दोषारोपण होगा और युद्ध न करने पर 'क्षत्रिय धर्म के पालन न करने का' दोषारोपण होगा।

संदर्भ ग्रन्थ –

– कोहेन लारेन्स सं., (2003) फ्राम माडर्निज्म टू पोस्टमाडर्निज्म : ऐन आन्टोलॉजी, ब्लैकवेल पब्लिशर्स, ऑक्सफोर्ड।

– कॉलिन गार्डन, सं., (1980), पॉवर नॉलेज सेलेक्टेड इन्टरब्यूज एण्ड अन्दर राइटिंग्स 1972-1977,पैन्थन बुक्स, न्यूयार्क।

– चैरिस बार्कर (2000), कल्चरल स्टडीजः थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस, सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

– जे.एफ. ल्यूटार्ड (1997), द पोस्टमॉर्डन कन्डीशन : ए रिपोर्ट ऑन नॉलेज, मैन्चेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस, मैनचेस्टर।

– ज्यॉक दरिदा (2002), ऑफ ग्रामेटोलॉजी, अनुदित गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

- टेरी इग्लटन (1996), द इल्यूजन्स ऑफ पोस्टमाडर्निज्म, ब्लैकवेल पब्लिशर्स, ऑक्सफोर्ड।
- टीम उड्स (1999), बिगिनिंग पोस्टमाडर्निज्म, मैक्मास्टर यूनिवर्सिटी प्रेस, मैक्मास्टर।
- डेविड लियॉन (2002), पोस्टमाडर्निटी, वीवा बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
- नाथन विडर (2004), फूको एण्ड पॉवर रीविजिटेड, यूरोपियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल थ्योरी, भाग–3, अंक–4
- फ्रेडरिक जेमेसन (1991), पोस्टमाडर्निज्म : द कल्चरल लॉजिक ऑफ द लेट कैपिटलिज्म, वेर्सो पब्लिकेशन्स, लन्दन
- फ्रेडरिक जमेशन (1985) पोस्ट माडर्निज्म एण्ड कन्ज्यूमर सोसाइटी, अन्तर्गत, एच. फॉस्टर (सं.), पोस्टमार्डन कल्चर, प्लूटो प्रेस, लन्दन।
- फ्रिट ज्योफ कॉपरा (1982), द टर्निंग प्वांइट, हॉपर्र एण्ड कालिन्सप्रब्लिशर्स, लन्दन
- मिशेल फूको (1990), द हिस्ट्री ऑफ सेक्शुअलिटी, भाग एक सं., विन्टेज बुक्स, न्यूयार्क।
- मिशेल फूको (1996), आर्कियोलॉजी ऑफ नॉलेज, ताविस्टोक पब्लिकेशन्स, लन्दन।
- मिशेल फूको (1984) वाट इज इन्लाइटमेन्ट, अन्तर्गत, रॉबिनॉव (सं.), द फूको रीडर, पैन्थन, न्यूयार्क।
- मिशेल फूको (1980), ट्रुथ एण्ड पॉवर अन्तर्गत सी.गार्डन (सं.) पॉवर/नॉलेज, हार्वेस्टर प्रेस, बिंग्टन।
- सुसन जे हेकमैन(1990), जेण्डर एण्ड नॉलेज, पॉलिटी प्रेस, कैम्ब्रिज।
- स्टुअर्ट हॉल, डेविड हेल्ड एवं टोनी मैक्ग्रयू, सं. (1992), पॉलिटी प्रेस, कैम्ब्रिज।
- हॉन्स बर्टेन्स एवं जोसेफनातोली सं, (2002), पोस्टमाडर्निज्म : द की फीगर्स, ब्लैकवेल पब्लिशर्स, ऑक्सफोर्ड।

◆◆◆

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उत्तर-आधुनिकतावाद : एक पुनरावलोकन

प्रशान्त शुक्ल

प्रस्तुत प्रपत्र इस तर्क पर आधारित है कि उत्तर–आधुनिकतावाद का महत्त्व इसके 'निषेध के सामर्थ्य' से ही निगमित होता है। वस्तुनिष्ठता एवं 'वर्तमान की तत्त्वमीमांसा' की समीक्षा एक ऐसे नवीन दार्शनिक ढाँचे को जन्म देती है जिसमें न सिर्फ नवजागरण/आधुनिकता की पूर्वसमीक्षाओं को समाहित करना सम्भव है, अपितु उन्हें और अधिक सुविस्तृत एवं विश्लेषणात्मक पद्धति प्रदान करना भी सम्भव हो पाता है। यद्यपि ऐसी समीक्षा में प्रयुक्त प्रत्यय जब भी सकारात्मक नियमों में परिवर्तित किये जाते हैं, तो एक ऐसे संशयवादी एवं शून्यतावादी दृष्टिकोण को जन्म देते हैं, जिसमें किसी भी प्रकार की सार्थक एवं सुसंगत विवेचना को संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। निष्कर्षतः उत्तर–आधुनिकतावाद के दार्शनिक पक्ष को समझने के लिए यह अपेक्षित है कि हम इसके सकारात्मक नियमों एवं 'निषेध के सामर्थ्य' के मध्य विभेद स्थापित करें। साथ ही उन अवधारणाओं की विवेचना भी समीचीन है जिनके द्वारा आधारवाद की आलोचना को एक सकारात्मक स्वरूप प्रदान किया जा सके।

I

उत्तर–आधुनिकतावाद का आरोहण सम्भवतः 1980 के दशक का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चारित्रिक गुण रहा। जहाँ एक ओर जेमसन एवं हार्ले जैसे कुछ चिन्तकों ने इसे पूँजीवाद के उत्तरार्ध एवं पराभव का प्रतीक माना, वहीं दूसरों ने इसे एक आधारवाद–विरोधी दृष्टिकोण से सम्बद्ध माना। समय के साथ यह मान्यताएँ सर्वस्वीकार्य होती चली गईं एवं वर्तमान में उत्तर–आधुनिकतावाद की चारित्रिक विशिष्टता देरिदा, रिचर्ड रॉर्टी, डील्यूज एवं ल्योतार्ड जैसे दार्शनिकों के दार्शनिक विन्यास में प्रतिबिम्बित होती है। यद्यपि इन दोनों प्रकार के चिन्तनों का विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण पूर्णतया भिन्न है किन्तु जिन प्रत्ययों एवं मूल्यों को इनमें स्थापित किया गया है, वे समान हैं। अनेकों दृष्टांतों में यह स्पष्ट होता है कि उत्तर–आधुनिकतावाद परिस्थितियों के जिन गुणों को पहला समूह प्रस्तुत करता हैं, उन्हें ही दूसरा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समूह अपने दार्शनिक मूल्यों के लिए प्रयोग में लाता है। उदाहरणार्थ, हार्वे के द्वारा वर्ग–संघर्ष एवं वर्ग–उत्पादन के सम्बन्धों की प्राथमिकता कहीं न कहीं मार्क्सवाद के वृहद् वर्णनों की सैद्धान्तिक आलोचनाओं से सम्बद्ध हैं। इसी प्रकार नवीन वर्ग–सम्बन्धों एवं वर्ग–विरोधों की उत्पत्ति मानव स्वातंत्र्य एवं आधारभूतता–विरोधी सिद्धान्तों के साथ सुसंगत प्रतीत होती है। इसमें 'श्रमिक वर्ग के महत्त्व' को इतिहास का क्रांतिकारी विषय बना दिया गया। अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, किन्तु पूँजीवादी व्यवस्था में आए इन परिवर्तनों ने 'मुक्ति के बहुलतावादी विचार' को प्रोत्साहित किया। इसी प्रकार, 'वैश्विक चिन्तन एवं क्षेत्रीय आचरण' के सिद्धान्त को भी उत्तर–आधुनिकतावादी परिस्थितियों के विशिष्ट गुण के रूप में स्थापित किया गया और यही भाव 'क्षेत्रीय निर्धारणवाद' एवं 'क्षेत्रीय प्रबंधन' में भी प्रतिध्वनित होता है (ल्योतार्ड, 1987: xxiv)। विविध अभिरूचियों का ऐसा अनुसरण (जो कि अब उपग्रह–आधारित संवाद में पूर्णतः सम्भव है) विविधता, विभिन्नता एवं विखंडन के दार्शनिक महत्त्व को भी स्थापित करता है। अतः यद्यपि उत्तर–आधुनिक परिस्थितियों का यह विवेचन नवीन सांस्कृतिक एवं संवेगात्मक नियमों के उद्भव को प्रदर्शित करता है, तथापि इससे सम्बन्धित सभी दार्शनिक अपने मूल्यों को एक पद्धतिमूलक प्रमाणिकता प्रदान करने का प्रयास भी करते हैं। इस प्रकार वे अकादमिक संवाद की भाषा एवं बौद्धिक समझ में एक विस्तृत परिवर्तन लाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हैं। उन्होनें ऐसे वातावरण का निर्माण करने का सतत प्रयास किया जिसमें प्लेटो के काल से निर्गमित वैज्ञानिकता पर आधारित बौद्धिक मान्यताओं पर प्रश्न उठाने का अनवरत प्रयास होता रहा है।

इन सबके बावजूद ऐसे बौद्धिक विद्रोह से उत्पन्न सुखाभास आश्चर्यजनक रूप से अत्यन्त अल्पायु रहा। यद्यपि अनेक बुद्धिजीवी अभी भी उत्तर–संरचनावादी भाषा का प्रयोग कर रहे हैं, किन्तु आलोचकों ने उत्तर–आधुनिकतावाद के विचारों पर प्रश्न उठाने आरम्भ कर दिये हैं (ल्योतार्ड, 1991: 25 : हेलर व फेहर, 1988: 10–11)। बौद्धिक दृष्टिकोण में ऐसे परिवर्तन का क्या कारण रहा? बुद्धिजीवी स्वयं को उत्तर–आधुनिक परियोजना से क्यों दूर कर रहे हैं? क्या उत्तर–आधुनिक उग्रवादी चिन्तकों द्वारा प्रयुक्त अनेक भाषाओं में से एक है? वर्तमान बौद्धिक परिवर्तनों में इसका स्थान क्या हैं, क्या हमने उत्तर–आधुनिक की पूर्ण उपेक्षा कर दी हैं ? क्या इसमें कुछ ऐसा मूल्यवान भी है जिसे इन समस्त बदलावों के बावजूद संजो कर रखना चाहिए? इन समस्त प्रश्नों से प्रोत्साहित होकर यह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रपत्र (बानू हेलवास्वागू के शब्दों में) उत्तर–आधुनिकतावाद के 'रोमांच' एवं 'उत्साह' के अध्ययन का प्रयास मात्र है (1992)। 'वाद' की समकालीन अवधारणा को नकारे बिना यहाँ यह तर्क प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है कि अनेकोनेक विसंगतियों एवं प्रत्याहारों के बावजूद उत्तर–आधुनिकतावाद एक विशिष्ट सैद्धांतिक बौद्धिक परियोजना को प्रस्तुत करता है। इससे उत्पन्न प्रारम्भिक उन्माद एवं तदुपरान्त भय को समझने के लिए इस परियोजना के प्रत्ययों के समझना भी अनिवार्य है। निश्चित रूप से उत्तर–संरचनावादी भाषा की ख्याति पद्वतिमूलक निष्पक्षता एवं सृजन, विस्थापना, विखण्डन इत्यादि रूपकालंकारों के प्रयोग को एक बौद्धिक सजावट के रूप में समझा जा सकता है। किन्तु यह व्यवस्था अपूर्ण–सी प्रतीत होती है, क्योंकि यह बौद्धिक वरीयता को वैयक्तिक सनक एवं नियतिवाद तक सीमित कर देती है। इसके स्थान पर यह कहना कहीं अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि उत्तर–आधुनिकतावाद पूँजीवाद के उत्तरार्ध का सांस्कृतिक–प्रतीकीकरण मात्र है। यह व्याख्या उत्तर–आधुनिकतावादी नीतियों की झलक तो देती है, किन्तु पूर्ण संतुष्टि नहीं प्रदान करती।

उपरोक्त व्याख्याओं की इन सीमाओं को ध्यान में रखते हुए यहाँ हम उत्तर–आधुनिकतावाद के उद्‌भव, विकास एवं सापेक्ष पराभव को एक अलग प्रकार में समझने का प्रयास करेंगे। अतः अगले कुछ पृष्ठों में उत्तर–आधुनिकतावादी परियोजना के विशिष्ट चारित्रिक गुणों को निरुपित करने का प्रयास किया गया है। साथ ही साथ इस परियोजना में अंतर्निहित सैद्धांतिक एवं राजनैतिक संभावनाओं को तलाशने का प्रयास भी किया गया। इस प्रकार समकालीन समाज में उत्तर–आधुनिकतावादी आवधारणाओं के मूल्यों के सामंजस्य को भी समझने का प्रयास किया गया है। यहाँ यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि 'वस्तुनिष्ठता' एवं 'वर्तमान की तत्त्वमीमांसा' की आलोचना ने एक ऐसे नवीन दार्शनिक ढाँचे को जन्म दिया, जिसमें नवजागरणवाद/आधुनिकतावाद की पूर्व आलोचनाएँ समाहित की जा सकती हैं। किन्तु जब ऐसे प्रत्ययों को सकारात्मक नियमों में परिवर्तित करने का प्रयास किया गया तो ऐसे संशयवाद एवं शून्यता ने जन्म ले लिया, जिसमें 'संसक्तता' एवं 'सार्थकता' के समस्त गुणों को संशय की दृष्टि से देखा जाने लगा। निष्कर्षतः यदि हमें उत्तर–आधुनिकतावादी विचारधारा के विशिष्ट गुणों को संरक्षित करना है तो यह अनिवार्य है कि हम इसके 'निषेध के सामर्थ्य' एवं 'आरोपण के नियम' में विभेद स्थापित करें।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपरोक्त उद्देश्यों के परिप्रेक्ष्य में यह प्रपत्र उत्तर–आधुनिकतावाद का समग्र चित्र प्रस्तुत करने का एक प्रयास मात्र समझा जाना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु यहाँ उत्तर–आधुनिकतावाद के विविध दर्शनिक सूत्रों को अलग–थलग किये बिना ही इस विचारधारा की सामान्य विशेषताओं को समझने का प्रयास किया गया है। साथ ही इसके उपयोगितावादी एवं उत्तर–संरचनावादी पंरपराओं से जुड़े समर्थकों के द्वारा दिये गये प्रत्ययों को भी समझने का प्रयास किया गया है। स्मरण रहे कि यहाँ वर्णित सभी चिन्तक स्वयं को एक उत्तर–आधुनिकतावादी के रूप में स्वीकार नहीं करते। उदाहरणतः देरिदा ने कभी भी उत्तर–आधुनिकतावादी होने का दावा नहीं किया किन्तु चूँकि उनके विचारों में उत्तर–आधुनिकतावाद की स्पष्ट झलक मिलती है, अतः इन विचारों का स्वतन्त्र प्रयोग किया गया है। इस परिचर्चा को आरम्भ करने से पूर्व यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि यहाँ किसी विशेष दार्शनिक के विचारों का प्रस्तुतीकरण नहीं किया गया है अपितु चिन्तकों के उन विशेष ग्रंथों एवं उद्देश्यों को प्रयुक्त किया गया है जिनसे उत्तर–आधुनिकतावाद के बौद्धिक आयामों को प्रकाशित जा सकता है।

II

उत्तर–आधुनिकतावाद नवजागरणवादी बौद्धिकता एवं उससे विकसित सामाजिक एवं बौद्धिक जीवन शैली के सम्पूर्ण एवं कठोर आलोचना पर आधारित है। जहाँ एक ओर यह सार्वभौमिक ज्ञान और सर्वमान्य सिद्धान्तों की प्राप्ति के प्रयासों पर प्रश्नचिन्ह लगाता है, वहीं दूसरी ओर यह नवजागरणकाल की सुसंगत आस्थाओं को भी नकार देता है। इस प्रकार यह नवजागरण की अवधारणा से दूरी स्थापित करते हुए 'स्थानीय' एवं 'विशेष' बिन्दुओं पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है। यह सार्वभौमिक निरुपणों की वैधता एवं अनिवार्यता पर भी प्रश्न उठाता हैं एवं यह तर्क देता है कि ऐसे वृहद् आख्यान पूर्णतया सर्वसत्तावादी बन जाते हैं। ऐतिहासिक रूप से ऐसे वृहद् आख्यानों (जो कि आत्मा सम्बन्धी द्वन्द न्याय, बौद्धिक एवं कार्मिक वर्ग की मुक्ति एवं पूँजी के सृजन से सम्बन्धित रहे) ने ही साम्राज्यवाद एवं सर्वसत्तावाद की मानसिकता को जन्म दिया। फासीवाद एवं स्टालिनवाद इसके तात्कालिक जीवन्त उदाहरण हैं (ल्योटार्ड 1987: x-xxiv)। विधिमूलक दृष्टिकोणों के अनुसार भी ये स्वस्थापित सिद्धान्त गम्भीर रूप से दोषपूर्ण रहे हैं। इनके द्वारा सार्वभौमिक एवं नित्य 'सार' की खोज ने इतिहास में 'विशेषों के महत्त्व' को धुँधला कर दिया। इन प्रयासों ने 'विशेषों'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एवं 'स्थानीय मुद्‌दों' के महत्त्व की पूर्णतः अवहेलना की। इसके साथ ही (अनुचित रूप से) यह भी स्वीकार किया गया कि ये सभी विशेष आख्यान किसी ऐसे एकनामी जगत् एवं सार्वभौमिक वर्णन को जन्म दे सकते हैं जो कि सम्पूर्ण मानवता की व्याख्या दे सके (ल्योतार्ड, 1988: 155)।

उत्तर–आधुनिकतावाद के अनुसार नवजागंरणवाद का यह वृहद् आख्यान इस मिथ्या धारणा पर आधारित है कि इतिहास, समाज, मानव एवं ईश्वर का एक आंतरिक स्वभाव एवं एक सुंसंगत व अभिज्ञेय सार होता है। उत्तर–आधुनिकतावाद का यह तर्क है कि आंतरिक स्वभाव, वस्तुनिष्ठ सत्ता अथवा जगत् के परिशुद्ध प्रस्तुतिकरण जैसी कोई भी चीज नहीं होती। जिस प्रकार विशेष वस्तुओं से स्वतंत्र इतिहास का कोई भी सार्वभौमिक नियम नहीं होता है, उसी प्रकार स्वंय को खोजे जाने हेतु प्रतिक्षारत मानव–मनस से पूर्णतया स्वंतत्र कोई सर्वमान्य सत्य भी नहीं होता (रिचर्ड रॉर्टी, 1986;)। जगत् के स्वभाव के विषय में दिये गये समस्त कथन भाषा में ही अवस्थित होते हैं एवं सैद्धान्तिक प्रतिमानों के द्वारा ही समझे जाते हैं। अतः हम कभी भी स्वयं–में–जगत् को नहीं जान पाते। "जिसे हम जगत् के रूप में देखते है एवं जानते हैं, वह वस्तुतः इन सैद्धान्तिक प्रतिमानों के चश्में से ही सम्भव है। अतः जगत् के सन्दर्भ में दिये गये हमारे समस्त वर्णन बाह्य जगत् के प्रतिबिम्ब मात्र ही नहीं होते हैं वरन् मानव सामर्थ्य से गढ़े गये, उपयोग किये गए एवं निर्णित किये गये वर्णन मात्र होते हैं।"

उत्तर–आधुनिकतावादी जगत् की संज्ञानात्मक प्रक्रिया से सम्बन्धित इस दृष्टिकोण को विज्ञान की अनुभववादी समझ एवं दर्शन की नवजागरणवादी व्याख्या के विरोधी के रूप में प्रस्तुत किया गया। इस वैज्ञानिक समझ एवं नवजागरणवादी व्याख्या में यह स्वस्थापित मान्यता स्वीकार की गई कि ज्ञाता से स्वतंत्र एक ऐसा बाह्य जगत् है जो इन्द्रिय–प्रत्यक्ष के द्वारा ही प्राप्य है। यह तर्क दिया जाता है कि व्यवस्थित निरीक्षण एवं सामान्यीकरण की पद्धति का उपयोग करके विज्ञान हमें जगत् का एक यथार्थ विवरण प्रदान करता है। नवजागरणवादी चिन्तकों ने इस तर्क को पूर्णतः स्वीकार किया एवं यह भी माना कि विज्ञान द्वारा प्राप्त तकनीकी सफलता वैज्ञानिक विवरण की सत्यता के पर्याप्त प्रमाण हैं। साथ ही, उन्होनें यह भी माना कि यदि सामाजिक विज्ञान भी इसी स्तर की निश्चितता को प्राप्त करना चाहे, तो उन्हें भी कारणतामूलक व्याख्या, कालिक अनुक्रमण एवं सह अस्तित्व के सामान्य नियमों का पालन करना चाहिए (बक्कल, 1930: ब्युरी, 1997)।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उत्तर–आधुनिकतावादियों ने ऊपर वर्णित सभी कथनों पर आपत्ति जताई है। उनके अनुसार साहित्य एवं राजनीति की तरह विज्ञान भी एक मानव–क्रियाकलाप मात्र है। रॉर्टी के शब्दों में– ''महान वैज्ञानिकों ने जगत् के ऐसे आख्यानों का आविष्कार किया, जो कि परिस्थितियों के पूर्वानुमान एवं नियंत्रण में उपयोगी हो सकें। यह उसी प्रकार है जैसे कवियों एवं राजनैतिक चिन्तकों ने अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अन्य आख्यानों का आविष्कार किया (रॉर्टी, 1986,अ :3)।

उत्तर–आधुनिकतावादियों की यह मान्यता कि 'कोई ऐसा बाह्य सत्य है जिसे वैज्ञानिक निरीक्षण अथवा दार्शनिक चिन्तन के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, उस युग की विरासत है, जिसमें जगत् को ऐसी आत्मा (Being) की कृति माना गया जिसकी अपनी विशिष्ट भाषा रही होगी। यह मान्यता एक ऐसे सर्वोच्च शब्दावली (uper Vocabulary) को स्वीकार करती है, जिसके द्वारा इन दैवीय परियोजना का वर्णन सम्भव हो पाया। उत्तर–आधुनिकतावाद के समर्थकों के अनुसार यह दोनों विचार इस आधारभूत मान्यता पर आधारित हैं कि 'अर्थ' एवं 'सार' जैसी अभाषीय अवधारणाएँ भी होती हैं एवं भाषा का मूल उद्देश्य इन अर्थों की अभिव्यक्ति एवं इन सारों का वर्णन करना ही होता हैं। इसके अतिरिक्त उत्तर–आधुनिकतावादी भाषा की इस अवधारणा पर ही प्रश्न चिन्ह लगाते है। उनके अनुसार हमें इस विचार को ही त्याग देना चाहिए कि 'भाषा वर्णन की एक व्यवस्था मात्र है'। इस कथन से अनेक निष्कर्ष निगमित होते हैं –

1. भाषा को जगत् अथवा आत्मा के पर्याप्त/अपर्याप्त प्रतिनिधि वर्णन के रूप में स्वीकार करना उपयुक्त नहीं है।
2. सभी भाषाएँ मानवकृत हैं एवं जगत् सम्बन्धी व्याख्याओं में संसुगतता स्थापित करती हैं।
3. चूँकि जगत् स्वयं किसी भाषा को हमारे लिए प्रस्तावित नहीं करती, अतः वह हमें यह भी नहीं बताती कि कौन सी भाषा उपयुक्त है एवं कौन से भाषायी खेल प्रासंगिक हैं।
4. एक भाषायी खेल के दूसरे भाषायी खेल से विभेद को बौद्धिक प्रत्ययों एवं गाणितीय निश्चितता में न तो अवस्थित किया जा सकता है और न ही व्याख्यायित किया जा सकता है (लैकलाव, 1980:188–89)। "विभिन्न ज्ञान सम्बन्धी दावों एवं जगत् के विवरणों के लिए कोई भी मूलभूत अथवा सार्वभौमिक नियम नहीं दिये जा सकते।" (रॉर्टी, 1982:317, ल्योटार्ड, 1988:11)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

5. सत्य भाषायी सत्ताओं का गुण मात्र है एवं यह जगत् का किसी भी प्रकार से सुनिश्चित वर्णन अथवा प्रतिबिम्ब नहीं है।
6. ईश्वर एवं आत्मा जैसे विषयों के सन्दर्भ में सत्य के स्वभाव की परिचर्चा नितान्त अनुपयोगी है।
7. 'आन्तरिक स्वभाव' एवं 'शुद्ध–सार' जैसे कोई भी निरपेक्ष सन्दर्भ नहीं होते। हमारे आचरण को निर्धारित करने वाले कोई 'पवित्र अर्थ' भी नहीं होते। अतः अर्थ ऐसी स्वरचित वस्तुएँ हैं जिन्हें खोजा नहीं अपितु बनाया जाता है (रॉर्टी, 1986:अ एवं ब)।

उत्तर–आधुनिकतावाद के अनुसार अर्थ का सृजन किया जा सकता है, क्योंकि न तो इसका कोई अतीन्द्रिय आरोपण होता है और न ही कोई निरपेक्ष अर्थ। यह और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि यहाँ आरोपण और आरोपित परस्पर भिन्न हैं एवं उनके मध्य देश एवं काल विद्यमान होता है (देरिदा, 1976: 68–69, 1982: 9)। चूँकि कोई भी भाषायी प्रतीक किसी आरोपित वस्तु का प्रतिबिम्ब अथवा प्रतिकृति नहीं होती, अतः इसे एकमात्र वस्तु अथवा अर्थ में सीमित करना अनुचित है। हम मात्र इतना कह सकते हैं कि भाषायी प्रतीक अनेक अर्थों में प्रतिध्वनित होते हैं। व्याकरण (Gramme) के किसी भी स्वरूप में यह लेखक से एवं अपने उत्पत्ति बिन्दु से नितान्त परे होता है (देरिदा, 1982: 317)। दूसरे शब्दों में कहें तो इसका अर्थ लेखक के आशय अथवा ऐतिहासिक संदर्भ के साथ विनष्ट नहीं हो जाता।

उत्तर–आधुनिकतावादी यह मानते हैं कि पाठक/समीक्षक को अर्थ की अनिश्चितता एवं प्रतीकों की स्वेच्छा को ध्यान में रखते हुए ही ग्रंथों को समझने का प्रयास करना चाहिए। अतः ग्रंथ में एकरुपता एवं सुसंगतता की अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। वस्तुतः ग्रंथ को एकीकृत एवं पूर्ण अस्तित्व के रूप में देखना ही नहीं चाहिए। इसके स्थान पर हमारा ध्यान ग्रंथ के अर्थ में निहित विसंगतियों एवं विरोधाभासों पर केन्द्रित होना चाहिए। यह ग्रंथ में वर्णित शब्दों के ऐसे सम्भावित अर्थों को खोजने में निहित है जो कि सम्भवतः लेखक के द्वारा दिये ही न गये हों। यहाँ तक पाठक समास की पद्धति अथवा अन्य समान अर्थ का प्रयोग कर सकता है – चाहे वह भाषाई हो अथवा व्यावहारिक हो। ग्रंथ में वर्णित अर्थ को किसी अन्य अनुपस्थित किन्तु संदर्भित अर्थ से सम्बद्ध करने के अतिरिक्त पाठक उपस्थित व्यवस्था एवं विरोधाभासों पर प्रश्न भी कर सकता है, उन्हें उत्तर भी दे सकता है अथवा विस्थापित भी कर सकता है। इस प्रकार देरिदा के शब्दों में "पाठक पाठ्यसामग्री में समालोचनात्मक निवेश के लिए स्वतंत्र है।"

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुपस्थिति का अध्ययन एवं नये अर्थों का समावेशन वे दो पद्धतियाँ हैं जिनका उपयोग उत्तर–आधुनिकतावादी यह सिद्ध करने के लिए करते हैं कि ज्ञान सत्य के अन्वेषण अथवा खोज की व्यवस्था मात्र नहीं है अपितु यह 'सीमित सम्परिधान के संवरण में असीमित स्थानापन्न की स्वतन्त्र क्रीड़ा (free play) है'। दूसरे शब्दों में कहें तो यह ग्रंथ के पुनर्निर्माण नहीं अपितु विखण्डन (deconstruction) की पद्धति है, जिसमें 'वर्तमान की तत्त्वमीमांसा' से उत्पन्न सम्प्रत्ययात्मक संवरण से बाहर निकलने का निरंतर प्रयास किया जाता है। इनसे यह सिद्ध होता है कि चाहे हम कितना भी प्रयास क्यों न करें, हमारा अध्ययन सदैव ही अपूर्ण रहेगा क्योंकि इसमें सदैव ही अवशेष के रूप में ऐसी अन्यता (otherness) विद्यमान रहेगी, जिसे न तो उचित ठहराया जा सकता है और न ही उपेक्षित किया जा सकता है।

उत्तर–आधुनिकतावादी परियोजना इस 'अन्य' के द्वारा सृजित तत्त्वमीमांसीय स्थान, दार्शनिक एवं राजनैतिक संदर्भ में स्वतंत्रता, बाहुल्यता एवं विभिन्नता जैसे मूल मानकों का प्रतीकीकरण मात्र है। देरिदा के शब्दों में, "ऐसे स्थान की उपेक्षा की असंभाव्यता वस्तुतः अन्य की उपेक्षा की असम्भाव्यता ही है। इसकी उपस्थिति 'गौर वर्ण के पुरूषों की तथाकथित बौद्धिक व्यवस्था' को मुक्त करने एवं इसमें 'अन्य' के लिए स्थान सृजित करने का प्रतीक है। जहाँ एक ओर इस प्रतीक में यह पूर्वमान्यता निहित है कि "प्रत्येक मनुष्य एक व्यक्ति तभी बनता है जब वह सत्य की निश्चितता को छोड़कर 'अन्य' के साथ एकमात्र सहमति स्थापित कर सके" (रॉर्टी, 1989:18)। वहीं दूसरी ओर यह प्रतीक इन मूल्यों को भी पोषित करता है जिनके द्वारा "व्यक्ति एवं सम्प्रदाय अन्य व्यक्तियों एवं सम्प्रदायों के साथ शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व स्थापित कर सके एवं जीवन के नवीन, समन्वयात्मक एवं मध्यमार्गी पथ को स्थापित कर सके" (रॉर्टी, 1990:1)।

विभेद एवं अन्यता का यह उत्तर–आधुनिक उत्सव एक प्रकार से हमारी सीमितताओं की अभिव्यक्ति मात्र है। जहाँ एक ओर तत्त्वमीमांसीय स्तर पर यह हमारे अध्ययन एवं ज्ञान की अपूर्णता को प्रदर्शित करता है, वहीं दूसरी ओर राजनैतिक स्तर पर यह वर्तमान एवं भविष्य को निर्धारित करने के मानव सामर्थ्य पर संदेह की अभिव्यक्ति भी है। यही कारण है कि इसके समर्थक अनेक प्रकार से मानव सामर्थ्य की शक्तिहीनता, विघटन एवं असम्भाव्यता की बात करते हैं। तथापि यह महत्त्वपूर्ण है कि स्वयं को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'आकस्मिक एवं विशिष्ट आवश्यकताओं के विकेन्द्रित एवं अव्यवस्थित समूह' के रूप में स्वीकार करना किसी विषाद अथवा निराशा को उत्पन्न नहीं करता। जहाँ कुछ चिन्तकों ने इस वर्णन की निरंतरता के अभाव एवं खण्डित मानसिकता को भी एक उत्सव माना है, वहीं कुछ अन्य चिन्तकों ने इसे एक ऐसे ढाँचे के रूप में स्वीकार किया है जहाँ असम्बद्धता एवं भ्रामकता भी सकारात्मक मूल्य हो सकते हैं एवं (19वीं एवं 20वीं शताब्दी के) सर्वसत्तावादी सिद्धान्तों की पूर्णतः उपेक्षा की जा सकती है। निश्चित रूप से इस प्रकार का दृष्टिकोण सर्वसत्तावाद एवं उससे संपृक्त पूर्णता के प्रति आसक्ति के विरूद्ध संघर्ष में सहयोगी सिद्ध होता है (ल्योतार्ड, 1987: 81–82)। समकालीन परिप्रेक्ष्य में भी हेबरमास द्वारा प्रदत्त अभिव्यक्तिवादी सामर्थ्य से युक्त एक 'आदर्श संवादपूर्ण समाज' की आकांक्षा के विरूद्ध इसे एक महत्त्वपूर्ण औजार के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। ऐसे आदर्श जो 'सर्वसम्म्मति' के लिए ही तर्क को स्वीकार करें, जो संदर्भों की एकरूपता को तर्क के लिए आवश्यक माने, जो सहयोगियों के मध्य समानता को अनिवार्य माने, यहाँ तक कि इस सर्वसम्मति को भी भाग्य नहीं अपितु खेल का विषय माने एवं जो भी नियमों की स्वीकार्यता पर आपत्ति उठाए, उसे बहिष्कृत कर दें (ल्योतार्ड, 1987: 28)। ये निश्चित रूप से सर्वसम्मति के ऐसे आंतकी आदर्श हैं, जिनका सुदृढ़ विरोध अपेक्षित ही नहीं, अनिवार्य भी है।

इस प्रकार स्वसृजन एवं स्वविभेद की इस उत्तर–आधुनिक विचारधारा को शोषण एवं दमन के वर्तमान साँचों के सार्थक विकल्प के रूप में स्वीकार किया गया। इस विचारधारा ने विज्ञानवाद, सत्तावादी केंद्रीकरण, उपकरणवादी बुद्धिवाद जैसे आधारभूत दार्शनिक प्रतिमानों की आलोचना की। ऐसे आदर्शों के स्थानपन्न के रूप में स्थानीयता, व्यावहारिक ज्ञान एवं राजनैतिक मौलिकता को स्वीकार किया गया। चूँकि उत्तर–आधुनिकतावाद अनिश्चित, असंदिग्ध एवं आधारभूत प्रतिज्ञप्तियों के विरूद्ध रहा है, अतः उसकी यह भी मान्यता रही है कि अपने सामाजिक एवं राजनैतिक चुनावों के लिए हमें प्रमाणीकरण नहीं, अपितु क्षमायाचना करनी चाहिए (रॉर्टी, 1986:ब)। अतः हम मात्र ऐसे तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं जो कि हमारे चुनावों को बोधगम्य बनाए, किन्तु ऐसे तर्क कदापि नहीं प्रस्तुत कर सकते जिनके द्वारा समस्त वितर्कों एवं वादों को समाप्त किया जा सके। हमारे अपने चुनावों एवं राजनैतिक प्राथमिकताओं को तर्कशील बनाना होगा एवं उनकी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सापेक्ष वैद्यता को पहचानना होगा। और फिर भी बिना संकोच उनका समर्थन करना होगा। ऐसे संघर्षों के जो भी निष्कर्ष आएँ, हमें उन्हें सत्य मानने के लिए संलग्न रहना होगा (रॉर्टी, 1986:ब)। दूसरें शब्दों में कहें तो, राजनैतिक संघर्षों एवं वैचारिक संग्रामों के जो भी परिणाम निकले, उन्हें समाज के सापेक्ष सत्य के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। दार्शनिक प्रमाणीकरण के अभाव में समाज के सदस्यों के मध्य बंधुत्व को यूँ ही नहीं माना जा सकता अपितु इसे निरन्तर अभिव्यक्त एवं नवीनीकृत करते रहना चाहिए। यह भी संभव है कि अंधिकांश अवसरों पर समान प्रतिबद्धताओं से युक्त सामाजिक, राजनैतिक समूहों के मध्य बंधुत्व को गढ़ना पडे। चूँकि समाज के सदस्यों के मध्य विभेद स्वाभाविक हैं, अतः हमे ऐसे नागरिक संघ (Societas as opposed to Universites) की आवश्यकता है जिसमें विभेदों की अभिव्यक्ति को न सिर्फ स्वीकार किया जाए, अपितु उसका सम्मान भी किया जाए (रॉर्टी, 1980:318)।

अन्य अवसरों पर उत्तर–आधुनिकतावादियों ने निरपेक्ष प्रमाणीकरण के अभाव को मुक्ति के विभिन्न सोपानों के समर्थन में स्वीकार किया (उदाहरणतः वे तर्क जिनकी अभिव्यक्ति महिलाओं, समलैगिकों, पर्यावरणविदों, अप्रवासियों, एवं मूल निवासियों के संघर्षों आदि में होती है)। कुछ उत्तर–आधुनिकतावादी आशावान रहे कि ऐसी विविधातापूर्ण परियोजनाएँ एक ऐसे संतरंगी सम्मेलन (rainbow coalition) को जन्म देंगे, जिसमें सभी एक–दूसरे का समर्थन करेंगे एवं इस प्रकार उग्र प्रजातंत्र (radical democracy) को प्रोत्साहित करेंगे (लैकलाव, 1990:125)। यद्यपि दूसरों का दृष्टिकोण कुछ कमतर प्रतीत होता है; वे विविध बौद्धिकताओं एवं उनकी परियोजनाओं की ओर इंगित करते हैं। नवजागरणवादी बौद्धिकता के यूरोप केन्द्रित वर्णन के संदर्भ में ये चिन्तक सांस्कृतिक एवं पूर्व की विविधता का उत्सव मनाते हैं। संस्कृति यहाँ सामाजिक विवेचना की यथार्थ एवं प्राथमिक कोटि बन जाती है एवं इसकी अभिव्यक्ति बहुलतावादी स्वरूप में सम्भव है। हार्वे ने इसे अत्यन्त सुन्दर रूप में अभिव्यक्त किया हैं, "(प्रत्येक) समुदाय को अधिकार है कि वह स्वयं के विषय में, स्वयं के स्वर में बात करे एवं उसकी बात यथार्थ एवं वैधानिक मानी जाए" (हार्वे, 1989:48)। सांस्कृतिक एवं परम्परागत विशिष्टता के प्रति यह वरीयता जीवन में प्रत्येक पक्ष में परिलक्षित होती है (उदाहरणतः वास्तुकला में सांस्कृतिक प्रारूप एवं विन्यास का विस्तृत प्रयोग एवं उपलब्ध स्थान का परम्परागत प्रस्तुतीकरण स्वीकृत माना गया)।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सारांशतः उत्तर–आधुनिकतावाद को आधारभूतवाद के तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय विरोध के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यहाँ अतीन्द्रिय भाषा प्रतीकों एवं सत्य से सम्बन्धित दार्शनिक प्रयासों पर प्रश्न उठाया जाता है। स्वसृजन एवं स्वविभेद को स्वीकार करते हुए यह निश्चितता एवं संसक्तता की आकांक्षा को अस्पष्टता एवं स्वतंत्र क्रीड़ा की अवधारणा से अपदस्थ करने का प्रयास करता है एवं पाश्चात्य दार्शनिक परिचर्चा में अनुपस्थित–उपस्थिति (absent presence) के विचार को आरोपित करता है।

III

इस प्रपत्र का आरम्भ इस कथन के साथ हुआ था कि उत्तर–आधुनिकतावाद नवजागरणवादी बौद्धिकता के सम्पूर्ण निषेध का प्रतीक है। यद्यपि उक्त कथन उत्तर–आधुनिकतावाद को एक न्यूनतम परिभाषा प्रदान करता है, तथापि यह हमें उत्तर–आधुनिकतावाद की विशिष्टताओं से अवगत नहीं कराता । निश्चित रूप से उत्तर–आधुनिकतावाद के उद्भव के पूर्व भी अनेक ऐसे वैचारिक सम्प्रदाय पाये जाते रहे हैं जो कि नवजागरणवादी बौद्धिकता का निषेध करते हैं। इतिहासवाद (Historicism), अर्थमीमांसावाद (Hermeneutics), स्वच्छन्दतावाद (Romanticism), आलोचनात्मक सिद्धान्त (Critical Theory) एवं विज्ञान के विभिन्न उत्तर–अनुभववादी सिद्धान्त पहले भी नवजागरण को चुनौती देते रहे हैं। उत्तर–आधुनिकतावाद पूर्व के इन सिद्धान्तों एवं इनकी चुनौतियों से किस प्रकार भिन्न हैं? क्या यह इन प्रत्यालोचनाओं का समर्थन करता हैं? अथवा यह इनसे किस प्रकार भिन्न हैं? – प्रपत्र का यह अनुभाग इन्हीं प्रश्नों का उत्तर खोजने का प्रयास करता है। यह अनुभाग नवजागरणवाद की उक्त आलोचनाओं के संदर्भ में इन संप्रदायों एवं उत्तर–आधुनिकतावाद के मध्य विद्यमान 'दार्शनिक रिक्तता' का विवेचन प्रस्तुत करता है। उक्त पूर्व समीक्षाओं के इस संदर्भ को उत्तर–आधुनिकतावाद की उत्पत्ति के सिद्धान्तों से जोड़कर देखना अथवा उत्तर–आधुनिकतावाद को उनके बौद्धिक उत्तराधिकारी के रूप में स्वीकार करना अनुचित होगा। इसका प्रथम कारण तो यह है कि उत्तर–आधुनिकतावाद ने इन वैचारिक संप्रदायों को कभी भी अपने बौद्धिक पूर्वजों के रूप में स्वीकार नहीं किया; एवं दूसरा कारण यह कि उत्तर–आधुनिकतावाद ने जानबूझकर इनसे दूरी बनाए रखा। कुछ उदाहरणों में तो उक्त बौद्धिक संप्रदायों को नवजागरणवाद के साथ ही रखा गया है एवं नवजागरणवाद के समान ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उनकी भी आलोचना प्रस्तुत की गई है। अतः उत्तर–आधुनिकतावाद के इस कठोर दृष्टिकोण के अनुरूप यह 'उत्पत्ति का वृत्तान्त' नहीं माना जाना चाहिए। यदि यह एक वृत्तान्त हो भी तो यह मुक्ति के विभिन्न मानवीय प्रयासों का वृत्तान्त मात्र है।

नवजागरणवाद ने बुद्धि एवं विज्ञान के माध्यम से समाज में पंथनिरपेक्षता स्थापित करने के समस्त प्रयासों को बनाए रखा। नवजागरणवाद के यही वे उपकरण थे जिनके द्वारा उसने पारंपरिक, धार्मिक मान्यताओं एवं अंधविश्वासों के भ्रामक, तत्त्वमीमांसीय एवं अनुचित स्वभाव को प्रस्तुत करने का निरंतर प्रयास किया। स्पष्ट शब्दों में कहें, तो तर्कबुद्धि एवं विज्ञान का प्रयोग जगत्, मानव इतिहास एवं आत्मा के बौद्धिक विवेचन के लिए किया गया है। यह दृष्टिकोण 'शुभ' एवं 'बौद्विक समाज' की स्थापना के लिए कुशल नियंत्रण के मानव सामर्थ्य को स्वीकार करता है।

अंग्रेजी एवं फ्रांसासी साहित्यकारों के लेखन में अभिव्यक्त नवजागरणवादी चिन्तन पर मध्य 18वीं शताब्दी के जर्मन दार्शनिकों ने अनेक प्रश्न उठाए। जहाँ कुछ ने तर्कबुद्धि की केन्द्रीयता को चुनौती देते हुए कहा कि वह 'संकल्प' है जो कि इतिहास की प्रेरकशक्ति का कार्य करता है न कि तर्कबुद्धि। वहीं कुछ अन्य ने तर्कबुद्धि की अवधारणा को ही बदलने का प्रयास कर डाला। तर्कबुद्धि एवं परंपरा के मध्य विभेद स्थापित करने के बजाय उन्होनें यह तर्क दिया कि तर्कबुद्धि मानव–मनस का सहज एवं जन्मजात गुण है ही नहीं। साथ ही जर्मन इतिहासकारों ने नवजागरणवादी मान्यताओं को वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय विकास का एकसूत्रीय कार्यक्रम भी मान लिया। नवजागरणवाद ने औद्योगीकरण एवं प्रजातंत्र को 'अधंकार युग' एव 'आधुनिक युग' के विभेद के कारक तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया (एवं इस प्रकार उन्होनें प्रगतिशील अंग्रेजी एवं फ्रांसीसी समाज को उबाऊ एवं पिछड़े जर्मन समाज से भी विभेदित करने का प्रयास किया)। जर्मन इतिहासकारों ने उनके समाज के ऐसे चित्रण का विरोध किया एवं यह तर्क प्रस्तुत किया कि मानवमात्र का इतिहास अनेक ऐसे विविधतापूर्ण संस्कृतियों का अनुक्रम है, जिसमें सभी के अपनी मूल्य–व्यवस्था एवं आंकांक्षित शुभ हैं एवं जो स्वयं में पूर्ण हैं (हर्डर, 1969: 188)। दूसरे शब्दों में कहें तो विभिन्न समाज एवं संस्कृतियाँ परस्पर असम्मेय हैं एवं कोई भी एक मानक, विशेषकर वह, जो कि विकास की वर्तमान अवस्था पर आश्रित हो, उनका मूल्याँकन नहीं कर सकता (हर्डर, 1969: 231)।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अतः पूर्ववर्ती संस्कृतियों को आधुनिक समाज के क्रमिक विकास के आधार तत्त्वों के रूप में स्वीकार करना अनुचित होगा। न ही इस आधुनिक व्यवस्था को अतीत के मूल्याँकन का मानक माना जा सकता है। जीवन के प्रत्येक सामाजिक–सांस्कृतिक प्ररिपेक्ष्य को उसी के आन्तरिक मूल्यों के संदर्भ में समझना उचित होगा। अतः हर्डर के अनुसार इतिहासकारों को संस्कृति का अध्ययन 'बाहर से नहीं अपितु अंदर से करना चाहिए'। वस्तुतः इस अध्ययन के लिए मिथकों, किवदंतियों एवं स्थानीय साहित्य का वृहद् संकलन भी किया तथा इस प्रकार दूसरे इतिहासकारों के अध्ययन हेतु नवीन मानक स्थापित किये। हर्डर ने इतिहास के नवजागरणवादी अध्ययन की आलोचना की एवं नवजागरणवाद के द्वारा प्राचीन जीवन शैली को 'जगंली' एवं 'असभ्य' मानकर निषेध किया जाने की घनघोर आलोचना भी की। इसके स्थान पर उन्होंने विविध एवं असम्मेय संस्कृतियों की चारित्रिक विशेषताओं को महत्त्वपूर्ण माना एवं आदर्श के रूप में स्थापित किया। ज्ञात हो कि तकरीबन एक शताब्दी के पश्चात् इस दृष्टिकोण को अधिकाधिक समाजों के मानवशास्त्रियों ने न सिर्फ स्वीकार किया, अपितु विभिन्न जनजातीय एवं औपनिवेशिक संस्कृतियों के अध्ययन के लिए प्रयुक्त भी किया।

जर्मन इतिहासकारों ने नवजागरणवाद के पद्धतिमूलक अंधविश्वासों पर भी प्रश्न उठाए एवं प्राकृतिक विज्ञान व मानव विज्ञान के मध्य के विभेद पर अधिक बल दिया। नवजागरणवादी चिन्तकों ने विज्ञान के अनुभववादी सम्प्रत्यों पर अधिक बल दिया था एवं प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन में प्रयुक्त इस पद्धति का उपयोग सामाजिक विज्ञानों में भी करना चाहा। ये पद्धति अनुभववादी सामान्यीकरण एवं कारणतामूलक व्याख्या की पद्धति रही। वेगलिन, गैटरर एवं क्लेडीनियस ने भिन्न दृष्टिकोणों के द्वारा उपर्युक्त मान्यता का निषेध किया। वेगलिन ने यह तर्क दिया कि जहाँ प्राकृतिक विज्ञान भौतिक जगत् को नियंत्रित करने वाले अपरिवर्तनशील एवं अतींद्रिय नियमों से सम्बद्ध हैं; वहीं ऐतिहासिक विज्ञान मानव आत्मा के निरंतर परिवर्तनशील एवं अर्धस्वतंत्र तत्त्वों की विवेचना है (रील, 1975:119)। इस प्रकार क्लेडीनियस ने ऐतिहासिक एवं रूढिवादी व्याख्याओं के मध्य विभेद प्रस्तुत किया। जहाँ इनके अनुसार एक ओर ऐतिहासिक विज्ञान बाह्य जगत् एवं मानव मूल्यों के आंतरिक जगत् दोनों का विश्लेषण करता है वहीं दूसरी ओर रूढ़िवादी विज्ञान मानव से असंपृक्त बाह्य जगत् तक ही सीमित है (रील, 1975: 106–107)। इन दोनों इतिहासकारों ने इस मान्यता का पुरजोर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विरोध किया कि गणित एवं प्राकृतिक विज्ञान एक सावभौमिक ढाँचा प्रदान करने में सक्षम है। इसके स्थान पर उन्होंने माना कि यद्यपि ऐतिहासिक ज्ञान यथार्थता के भिन्न स्तर से सम्बद्ध है, किन्तु यह भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण एवं विश्लेषण का व्यवस्थित रूप है।

इसके साथ ही मानव/समाज विज्ञानों के स्थान पर इतिहास के संदर्भ को प्रयुक्त कर इन जर्मन इतिहासकारों ने यह भी प्रस्तावित किया कि 'दर्शन नहीं अपितु इतिहास ही समस्त मानव विज्ञान की आत्मा है': जहाँ एक ओर अन्य सभी विषय मानव जीवन के किसी एक पक्ष से ही सम्बद्ध होते हैं वहीं इतिहास समस्त आयुवर्ग के स्त्री एवं पुरूषों के साथ समस्त संभावित कालों में सम्बद्ध होता है। तत्पश्चात्, अन्य तर्कों को भी इस दृष्टिकोण में समाहित कर लिया गया। 19वीं शताब्दी के अंत तक जहाँ कुछ चिन्तकों ने उपर्युक्त कथन की विवेचना आरम्भ से वर्तमान तक विकास की प्रक्रिया को समझने हेतु किया, वहीं कुछ अन्य चिन्तकों ने वस्तुओं के निरंतर परिर्वतनशील स्वभाव एवं इससे उत्पन्न संदर्भवाद को प्रतिष्ठित करने के लिए भी उपर्युक्त कथन का प्रयोग किया। हीगेल इससे भी एक कदम आगे रहे। उन्होंने इतिहास को आकस्मिकता की पृष्ठभूमि में विद्यमान निरपेक्ष अतींद्रियता की अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया। उनके अनुसार इतिहास निरपेक्ष विचार को एक निश्चित स्वरूप प्रदान करता है एवं 'स्वज्ञान' के पर्यायस्वरूप होता है।

अध्ययन में इन विभिन्नताओं को परे रखते हुए यहाँ यह महत्त्वपूर्ण है कि सर्वभौमिकता का नवजागरणवादी प्रत्यय एवं सर्वसमाहित एकात्मकता में आस्था को मध्य 18वीं एवं पूर्व 19वीं शताब्दी में ऐतिहाासिक विविधता, विभिन्नता एवं आकस्मिकता के द्वारा विस्थापित कर दिया गया। विशेषकर स्वच्छन्दतावाद एवं रूमानियतवाद ने इसे समर्थन दिया। इस दृष्टिकोण ने नवजागरणवाद की संज्ञानात्मक प्राथमिकताओं (जैसे कि तर्कबुद्धि, संशय आधारित निश्चितता, निरन्तर आशावाद एवं स्वयं व प्रकृति के प्रति संशयवाद) को पलट दिया– साथ ही इस दृष्टिकोण ने मानव–भाग्य के निर्धारक तत्त्वों के रूप में आकस्मिकता एवं मानवकृत/मानवचयनित संदर्भों को प्रतिष्ठित किया। उनके अनुसार मानव जीवन की सर्वोच्च त्रासदी यह है कि वह स्व–आरोपित है; अर्थात् यह हमारे स्वयं के भावावेगों एवं आंतरिक विवशताओं का भी परिणाम है। रूमानियतवाद एवं स्वच्छन्दतावाद ने स्वयं को नवजागरणवादी दार्शनिकों से एक अन्य प्रकार से भी पृथक् माना है; जहाँ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक ओर नवजागरणवादी सत्य, बाह्य जगत् की वस्तुनिष्ठता एवं मानव आत्मा को अनावृत करने के अथक प्रयासों को करने में लिप्त थे, वहीं रूमानियतवादी प्रकृति के व्यक्तिनिष्ठ अनुभवों, संवेगों एवं अपेक्षाओं का उत्सव मनाने में लीन थे। इस संदर्भ में निम्नलिखित तीन महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं :–

1. इतिहासकारों एवं रूमानियतवादी चिन्तकों ने कभी भी अतीन्द्रियता एवं सार्वभौमिकता से सम्बन्धित प्रश्न नहीं उठाए। उन्होनें आकस्मिकता एवं विविधता पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हुए इस संवाद के तत्त्वों में हेर–फेर मात्र किया है।
2. हर्डर एवं डिल्थी ने हमारे 'प्रत्यक्षों का इतिहासीकरण' कर दिया। उन्होंने पूर्व–प्रदत्त अनिवार्य एवं अपरिवर्तनशील प्रकृति को ऐतिहासिक विशिष्टता से युक्त एवं सांस्कृतिक रूप से परिभाषित प्रकृति अथवा आत्मा (Spirit) से विस्थापित कर दिया। ऐतिहासिक विकास, नियम एवं तत्त्वमीमांसीय सार के सार्वभौमिक सम्प्रयत्यों के स्थान पर उन्होंने विकास के विभिन्न प्रत्ययों पर आधारित आत्मा, नैतिकता एवं सामाजिक संस्थाओं के निरूपण पर बल दिया। दूसरे शब्दों में, इन्होंने बौद्धिकता की अवधारणा का इतिहासीकरण कर दिया एवं मानव परियोजनाओं की विविधता को ही परिचर्चा का केन्द्र बिंदु मान लिया। तथापि, उन्होंने न तो सार्वभौमिक की खोज को त्यागा और न ही उसे अप्राप्य माना। नवजागरणवादी एवं बौद्धिक दृष्टिकोण पर आधारित एकत्ववादी यथार्थता एवं सत्य के स्थान पर उन्होंने यथार्थता एवं सत्य के ऐतिहासिक विशिष्टता एवं सांस्कृतिक सहभागिता से युक्त संप्रत्ययों को प्रस्तुत किया। स्पष्ट शब्दों में कहें तो उनकी यह मान्यता रही कि (प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से) सामाजिक यथार्थ मानव–सृजन का ही परिणाम है। अपने शाब्दिक रूप में यह मानव–मनस एवं आत्मा (Geist) का ही वस्तुनिष्ठ स्वरूप है। तदुपरान्त उन्होंने यह तर्क दिया कि मानव–मनस की प्रत्येक अभिव्यक्ति एक अनूठा 'विशेष' है। यह ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विशिष्टता से युक्त यथार्थ का परिचायक है। अर्थात् यह 'आंतरिक' एवं 'बाह्य' संगठनों के ऐसे विशेष पर्यायों से संपृक्त है, जो कि एक जीवन–जगत् (Lifeworld) को अन्य से पृथक् करता है (डिल्थी, 1988: 105–14)। अतः प्रत्येक संस्कृति मूल्यों की एक व्यवस्था, 'स्व' एवं 'अन्य' के संप्रत्ययों, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोणों की पारस्परिकता से युक्त है एवं समाज के सदस्य के रूप

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में प्रत्येक मनुष्य इस पास्परिकता को अपने आचरण में अभिव्यक्त करता है। पारस्परिक अर्थों से युक्त ऐसा जगत् सामाजिक जीवन की तथाकथित 'आत्मा' को प्रतिबिम्बित करता है एवं समाज के सदस्यों के परस्पर संवाद में सहायक होता है। अतः यद्यपि सामाजिक यथार्थ को एक मानव कृति माना गया तथापि यह स्वीकार किया गया कि इस सामाजिक यथार्थ के विशिष्ट 'सांस्कृतिक अर्थ' एवं 'ऐतिहासिक आत्मा' को नकारा नहीं जा सकता। अतः वस्तुनिष्ठ सत्य की खोज को यहाँ पर त्यागा नहीं गया, सिर्फ वस्तुनिष्ठ यथार्थ एवं ऐतिहासिकता से विरक्त सत्य की अनुभववादी अवधारणा का निषेध किया गया है।

3. डिल्थी ने इस मान्यता की पुष्टि की कि यदि इतिहासकार/समाजशास्त्री समाज के 'वस्तुनिष्ठ मनस' के संदर्भ में दी गयी विशिष्ट अभिव्यक्तियों (प्रकरण/ग्रंथ) को समझ सकें तो वे निश्चित रूप से वस्तुनिष्ठ सत्य तक भी पहुँच सकते हैं। अर्थात् वस्तुनिष्ठ सत्य को सामाजिक व्यवस्था एवं अंतर्विषयी अर्थों के माध्यम से ही जाना जा सकता है (हाजिस, 1949:118)। वस्तुतः इतिहासकार से यह अपेक्षा की जाती है कि वह तथ्य से उस अर्थ को पुनर्प्राप्त करें जिसे मूल श्रोताओं (लेखक के समकालीन श्रोताओं) ने ग्रंथ से प्राप्त किया होगा (महाजन, 1992: 55–89)। चूँकि इतिहासकारों को परस्पर भाषाई खेल, सम्बद्ध लेखन एवं व्यवहार के द्वारा अर्थ को प्राप्त करने हेतु आमंत्रित किया गया, अतः नवीन ग्रंथों में भी इसी अर्थ को समाहित करने की अपेक्षा भी स्वाभाविक ही है। अतः यहाँ वस्तुनिष्ठता का परित्याग नहीं किया गया एवं कम–से–कम सैद्धान्तिक स्तर पर ग्रंथ के अर्थ से सम्बन्धित विवादों को सुलझा लिया गया।

इस प्रकार अर्थमीमांसा से सम्बन्धित दर्शन ने अनिवार्य एवं सार्वभौमिक सत्य की अवधारणा को त्याग दिया। उसने जीवन, मानव आत्मा, नैतिकता एवं समाज के सम्प्रत्ययों का जैसे इतिहासीकरण ही कर दिया। तदुपरान्त उसने विविध ऐतिहासिक–सांस्कृतिक इकाइयों में अभिव्यक्त बौद्धिकता के विभिन्न स्वरूपों को विधिक रूप में स्थापित किया एवं उसे मौलिकता व सम्मान प्रदान किया। विवेचन की एक प्रक्रिया के रूप में दर्शनशास्त्र ने सदैव ही विभिन्नताओं एवं आकस्मिकता को समाप्त करने का प्रयास किया है, उसे अधीनस्थ स्थान दिया है एवं इतिहास को गौरवशाली स्थान पर प्रतिष्ठित किया। अब इतिहास ने ज्ञान एवं अस्तित्व के पयार्य स्वरूप स्वयं को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्थापित कर लिया। अब इतिहासकारों से यह अपेक्षा नहीं कि जाती कि वे बाहुल्यता की पृष्ठभूमि में छुपे सार्वभौमिक स्वरूप को पहचानने का प्रयास करें; इसके स्थान पर ग्रंथ में निहित मूल श्रोताओं द्वारा स्वीकृत अर्थ की पुनर्प्राप्ति ही उनका सद्यः उद्देश्य बन गया। अतः यहाँ पर न तो लेखन के अस्तित्व एवं न ही उसके प्रभुत्व को नकारा गया, अपितु यह माना गया कि अपने ग्रंथ के माध्यम से लेखक अन्य समकालीनों के साथ सम्वाद स्थापित करता है। इस प्रक्रिया में वह ऐसी भाषा का प्रयोग करता है जो उसके एवं समकालीन श्रोताओं के मध्य समान अर्थ/नियमों के तदनुरूप हो। अतः ऐसे विश्लेषण का मूल उददेश्य उस भाषाई खेल की पुनर्रचना करना है जिसमें ग्रंथ को बांधा गया है। इसके विपरीत रूमानियतवादियों ने मूल लेखक के साथ एक 'मनोवैज्ञानिक एकात्मकता' सृजित करने की बात की और साथ ही सृजन के क्षणों में बुद्धिजीवी के द्वारा जिए गए जीवन की पुनर्रचना को असंभव माना। इस विरोधाभास से विचलित होकर रूमानियतवाद ने ग्रंथ को पूर्णतः समझने की सम्भावना को ही त्याग दिया। वहीं दूसरी ओर अर्थमीमांसा के ढाँचे ने नवजागरणवाद के उन्हीं अयामों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया जो कि मानव के ऐतिहासिक जगत् से सम्बद्ध थे। दूसरे शब्दों में कहें तो इस दुविधा को मूल अर्थ की प्राप्ति की सीमाओं के द्वारा समझने का प्रयास किया। उनके अनुसार सृजन के क्षणों में लेखक के आशयों की पुनर्प्राप्ति उनका उद्देश्य नहीं है।

इस प्रकार अर्थमीमांसा के दर्शन ने जहाँ एक ओर इतिहास–विरक्ति एवं अनिवार्यता–मूलक अध्ययन की आलोचना की, वहीं उसने (रॉर्टी के शब्दों में) "अनुचित आधारभूतवाद" का भी खण्डन किया। तथापि दूसरे शब्दों में उसने चिन्तन के मूल में अवस्थित प्राकृतिक विज्ञान एवं वैज्ञानिक पद्धति पर प्रश्न नहीं उठाया। इस कार्य का सम्पादन तकरीबन एक शताब्दी के पश्चात् विज्ञान के उत्तर–अनुभववादी दार्शनिकों ने किया, जिनमें कुह्न, फीयरबंड एवं पटनम् प्रमुख रहे। इसमें से प्रत्येक ने वैज्ञानिक निरीक्षण एवं सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया में अर्थप्रकाशन एवं सैद्धान्तिक समझ को सर्वाधिक महत्त्व दिया। सम्भवतः इस दृष्टिकोण की सर्वाधिक सशक्त अभिव्यक्ति पॉपर के लेखन में वर्णित 'सर्चलाइट सिद्धान्त' में मिलता है: जिसमें यह कहा गया है कि हम क्या खोज पाते हैं, यह काफी हद तक इस बात पर निर्भर करता है कि हमारे समक्ष क्या प्रकाशित हो पाया है (पॉपर, 1966: 216)? यद्यपि हमारा प्रत्यक्षीकरण काफी हद तक वस्तुओं के उस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वभाव पर आश्रित होता है जो हमारे समक्ष प्रकाशित हो पाता है, तथापि विषयी का स्थान एवं उसका प्रयोजन भी निरीक्षण पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है। कुह्न एवं हैन्सन ने कहीं अधिक सुदृढ़ तर्क प्रस्तुत किए। उन्होंने कहा कि हम जगत् को किसी सैद्धान्तिक प्रतिमान अथवा झरोखे के माध्यम से ही देख सकते हैं और इसीलिए भिन्न झरोखे से देखने पर लोगों को जगत् का भिन्न प्रत्यक्षीकरण प्राप्त होता हैं। ऐसा नहीं हैं कि वे निरीक्षण तथ्यों की समान व्यवस्था को भिन्न रूप में समझते हैं, अपितु वे पूर्णतः भिन्न तथ्यों को ही देख पाते हैं। साथ ही किसी भी वस्तु के निरीक्षण का अर्थ मात्र उसे पहचानना ही नहीं अपितु उसे नाम देना भी होता है (कुहन, 1977: 463–80)। किसी भी वस्तु का नामकरण एवं वर्गीकरण एक अनुशासनात्मक ढाँचे के प्रयोग पर आश्रित होता है। अतः ऐसी कोई भी पद्धति नहीं हो सकती जिसके द्वारा हम स्वतः–सद्–जगत् को जान सकें अथवा यह कह सकें कि विशिष्ट प्रतिमानों से प्राप्त जगत् का चित्र उस बाह्य जगत् का वस्तुनिष्ठ प्रतिबिम्ब अथवा दर्पण छवि है। अतः प्रत्येक ज्ञान, चाहे वह प्राकृतिक विज्ञानों का ही क्यों न हो, प्रत्ययात्मक योजना के द्वारा मध्यस्थ होता हैं एवं वैज्ञानिक संगठनों के सदस्यों के द्वारा विश्लेषण की विषय–वस्तु भी होता है (हैन्सन, 1981: 262–67)।

उत्तर–आधुनिकतावाद ने विज्ञान की अनुभववादी अवधारणा की उपर्युक्त आलोचानाओं की पुष्टि की और साथ–ही साथ अर्थ के मीमांसावादी सरोकारों को भी स्वीकार किया। इसमें यह अवधारणा भी पुष्ट होती है कि किसी भी सिद्धान्तों से स्वतंन्त्र एवं पूर्णतः निरपेक्ष परीक्षण की भाषा सम्भव ही नहीं है। यह भी कि सभी विवेचन (चाहे व प्राकृतिक विज्ञान ही क्यों न हो) सैद्धान्तिक प्रतिमानों का उपयोग करते ही हैं एवं विवेचन की विषयवस्तु बन जाते हैं। अतः विज्ञान की शुद्ध वस्तुनिष्ठता का दावा मिथ्या मात्र ही है एवं यह मान्यता पूर्ण भ्रामक है कि वैज्ञानिक सिद्धान्त बाह्य जगत् की दपर्ण छवि प्रस्तुत कर सकते हैं। तथापि प्रत्यक्षीकरण का समर्थन करते हुए उत्तर–आधुनिकवादी उस बिन्दु से कदापि आरम्भ नहीं करते जहाँ पर उत्तर–अनुभववादियों अथवा विवेचनात्मक सिद्धान्तवादियों ने चर्चा को छोड़ा था। वस्तुतः यह एक भिन्न आरम्भ बिन्दु को चुनते हैं, यह वर्तमान की तत्त्वमीमांसा का विरोध करते हैं एवं यह तर्क देते हैं कि विवेचनात्मक दर्शन ने पूर्व की पद्धतिमूलक त्रुटियों को बढ़ावा दिया। उदाहरणार्थ– डिल्थी ने ग्रंथ से ऐसे अर्थ को पुनः प्राप्त करने का प्रयास किया जो कि पूर्वप्रदत्त हो।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक ऐसा अर्थ जिसे स्वयं लेखक ने ग्रंथ में अवस्थित किया था। डिल्थी ने ग्रंथ की एकात्मकता एवं संसक्त अर्थ की उपस्थिति को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार यह मानते हुए कि समाज के वस्तुनिष्ठ मनस की पुनर्रचना द्वारा (इतिहासकार को) ग्रंथ के मूल अर्थ को पुनः प्राप्त करना चाहिए, उसने विवेचन की सम्भाव्यताओं को एक सीमा में बांध दिया। इस प्रकार उन्होंने हमें अनुभव के मूल सन्दर्भ तक ही सीमित रहने हेतु बाध्य कर दिया। उत्तर–आधुनिक के महत्त्वपूर्ण घटकों में से एक उत्तर–संरचनावादियों ने विवेचनात्मक दर्शन की इन पूर्व मान्यताओं को चुनौती दी। उत्तर–संरचनावाद ने ग्रंथ की स्वायत्तता को स्थापित करना चाहा एवं लेखक, मूल संदर्भ एवं मूल श्रोता तक सीमित रहने की बाध्यता से इसे मुक्त करने का निरंतर प्रयास किया। इन्होंने यह तर्क दिया कि अर्थ सदैव ही विलम्बित, स्थगित एवं विघटित होता है और साथ ही यह अर्थ आलोचनात्मक अध्ययन की इन सम्भावनाओं पर भी टिका होता है कि शब्दों का कोई एक निश्चित एवं स्थाई अर्थ नहीं होता है। भाषा के रूपकालंकारों के समान ही शब्द भी विविध छवियों एवं अर्थों का आह्वान करते हैं जिन्हें ग्रंथ के ऐसे पक्षों की प्रकाशित करने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है जो विवेचनात्मक अध्ययन के पूर्ववर्ती स्वरूपों में कहीं विलुप्त हो गये थे।

इस प्रकार उत्तर–आधुनिकतावाद में ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक रूप से विशिष्ट एकात्मक अर्थ की विवेचनात्मक मान्यता को अर्थ की अनिश्चितता एवं समापन के अभाव के जुड़वा विचारों के द्वारा विस्थापित कर दिया। विवेचनात्मक दर्शन एवं विज्ञान के उत्तर–अनुभववादी सम्प्रत्ययों के समान ही यह जुड़वा विचार भी इतिहास एवं विज्ञान की नवजागरणवादी अवधारणा की आलोचना करते हैं, किन्तु यह मानव विज्ञानों के प्रयोजन को कुछ भिन्न स्वरूप में परिकल्पित करते हैं। जैसा कि हमने पहले भी देखा है, उत्तर–आधुनिकतावादी अर्थ में एकात्मकता, सार्वभौमिकता एवं संसक्ता की खोज पर प्रश्न उठाते हैं। यह सार्वभौमिक सत्य के विचार की आलोचना को अवैयक्तिक, एकात्मक, ऐतिहासिक आत्मा एवं अर्थों की विवेचनात्मक मान्यता के विरूद्ध चुनौती के रूप में विस्तारित भी करते हैं। साथ ही यह एक विशिष्ट तादात्म्यता की व्याख्या एवं स्थापत्य की सभी प्रयासों को आधारभूतता एवं सार की स्थापना का प्रयास ही मानते हैं। निष्कर्षतः उपर्युक्त विचारधारा का परित्याग करके उत्तर–आधुनिकतावादी आत्मा, भाषा एवं समुदाय की शुद्ध आकस्मिकता को ही स्वीकार करते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

IV

उपर्युक्त अनुभागों में उत्तर–आधुनिकतावाद के दार्शनिक प्रयोजन की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया एवं अनिवार्यतावाद–विरोधी दृष्टिकोण की विशिष्टता का विवेचन प्रस्तुत किया गया। यहाँ हम उन पद्धतियों का विवेचन करेंगे जिनके द्वारा उत्तर–आधुनिकतावादी दर्शन के प्रत्ययों को सुव्यवस्थित रूप से समझा जा सके एवं सामाजिक विज्ञानों के सन्दर्भ में उचित स्थान प्रदान किया जा सके। यह अनुभाग विशेष रूप से सामाजिक विवेचन एवं राजनैतिक अनुबंधों से संदर्भित लेखनों की सम्भाव्यताओं का निरूपण होगा। जैसा कि हमने पहले भी देखा है, उत्तर–आधुनिकतावाद अनिवार्यतावाद एवं आधारवाद के विरोध को प्रतिबिम्बित करता है, अर्थात् यह अनिवार्यता एवं आधारभूतता की जुड़वा अवधारणाओं का विरोधी है एवं यह मानता है कि ऐसा कोई भी अतीन्द्रिय भाषा–प्रतीक अथवा निरपेक्ष आत्म–तत्त्व नहीं है जो कि समस्त जगत्, इतिहास एवं मानव–आत्मा के आधार के रूप में प्रतिष्ठित हो सके। जहाँ एक स्तर पर यह सर्वोच्च सत्ता के अभाव का प्रतीक है वहीं दूसरे स्तर पर यह ज्ञानमीमांसीय आधारभूतता की अनुपस्थिति का उद्घोष भी है। इससे कम–से–कम यह तो ज्ञात होता ही है कि :–

1. सार्वभौमिक सत्य अथवा स्वतः–सद्–वस्तुओं के विषय में चर्चा करना निरर्थक ही नहीं निष्प्रयोजन भी है।
2. हम जगत् को उसी रूप में जान सकते हैं जिस रूप में वह हमारे सैद्धान्तिक प्रतिमानों के झरोखे से दीख पड़ता है।
3. हमारा ज्ञान वस्तुनिष्ठ जगत् का चित्रण नहीं है, अपितु यह जगत् के भाषाई प्रस्तुतिकरण का विवरण मात्र है।
4. किसी भी पूर्वस्थापित मानव नियति अथवा इतिहास का कोई भी अस्तित्व नहीं होता। साथ ही ऐतिहासिक प्रक्रिया की दिशा एवं निष्कर्ष को निर्धारित करने वाले कोई विधिक नियम भी नहीं होते।
5. किसी भी अन्य ग्रंथ के समान ही इतिहास का पूर्ण अर्थ प्राप्त कर पाना भी असम्भव है।

उपर्युक्त सभी प्रतिज्ञप्तियाँ अपने समन्वित स्वरूप में सत्य के संवादिता सिद्धान्त, विज्ञान के अनुभववादी दृष्टिकोण एवं सार्वभौमिक ऐतिहासिक प्रक्रिया को चुनौती ही नहीं देते अपितु इनका निषेध भी करते हैं। कहने को तो उक्त कोई भी प्रतिज्ञप्ति नवीन अथवा विशिष्ट नहीं हैं :

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'ईश्वर की मृत्यु' की उद्घोषणा तो नीत्शे ने पहले ही कर दी थी, ज्ञान के सिद्धान्त–आश्रित स्वरूप को नवकांटवादियों एवं उत्तर–आधुनिकतावादियों ने पहले ही स्वीकार कर लिया था एवं ऐतिहासिक नियतिवाद के विचार की पड़ताल मार्क्सवाद के आलोचकों ने पहले ही कर ली थी। अतः उक्त प्रतिज्ञप्तियों में उत्तर–आधुनिकतावाद ने बिना कुछ नवीन अथवा विशिष्ट योगदान दिये हुए, अन्य आधारभूतता–विरोधी सम्प्रदायों की वैचारिक अनुभूतियों को प्रतिध्वनित ही किया है। किन्तु उत्तर–आधुनिकतावाद का अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों से विभेद का प्रमुख कारण यह तथ्य है कि इसने अनिवार्यता–विरोधी एवं आधारभूतता–विरोधी विचारों को एक सकारात्मक विषयवस्तु प्रदान की। इस प्रकार इसने नवजागरणवाद की वैज्ञानिक तर्कबुद्धि का निषेध मात्र ही नहीं किया, अपितु स्वयं में सार्वभौमिकतावाद पर भी प्रश्न उठाया। ऐसा करने में इसने ग्रंथ के वैकल्पिक संप्रत्ययों को भी स्वीकार किया– चाहे वह सामाजिक यथार्थ पर आधारित हों, वैयक्तिक आत्मा पर आधारित हों अथवा इतिहास पर आश्रित हों।

प्रमुख रूप में ग्रंथों की यह उत्तर–आधुनिक विवेचना देरिदा के दर्शन पर आधारित है एवं इसकी प्रमुख विशेषता इसकी बहुवाचकता (multivocity) में निहित है। साथ ही ग्रंथों का यह चारित्रीकरण अर्थमीमांसा पर आधारित अध्ययन पर प्रश्न उठाता है एवं यह स्थापित करने का प्रयास करता है कि किसी भी प्रकार के अभिलेखन वस्तुनिष्ठता से पूर्णतः रिक्त होते हैं। अपनी विवेचना का आरम्भ हम ग्रंथ की बहुवाचकता के दावे के साथ करते हैं। यहाँ बहुवाचकता का आशय अनेक अर्थों के सह–अस्तित्व से है। अर्थात् शब्दों का एक से अधिक अर्थ होना सम्भव है। अर्थों की यह विविधता अनेक रूप में अभिव्यक्त होती है : विभिन्न परिस्थितियों एवं युगों में शब्द का विविध उपयोग सम्भव है। कभी–कभी विभिन्न भाषायी खेलों में अपने उपयोग के द्वारा शब्द भिन्न अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। और कभी–कभी कालान्तर में उनके अर्थ स्वयं ही परिवर्तित हो जाते हैं। इन दोनों ही रूपों में यह कहा जा सकता है कि अर्थ संदर्भ पर आश्रित होते हैं। ऐसे शब्द निश्चित रूप से बहुवाचक होते हैं।

पूर्व में अर्थमीमांसा व संरचनावाद से युक्त बहुवाचकता का उपयोग उत्तर–आधुनिकतावाद में नवीन स्वरूप में किया गया। प्रथमतः व प्रमुखतः इसने बहुवाचकता को ग्रंथों का निर्धारक गुण माना। बहुवाचक होने के कारण यह ग्रंथ, चाहे वह व्यक्तिगत जीवन, मानवता, इतिहास, संस्कृति,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सामाजिक संरचना/आचरण, अभिलेख, लिखित प्रपत्रों से सम्बन्धित हो, हमें एक ही स्वर में सम्बोधित नहीं करते : अपितु प्रत्येक ग्रंथ में भिन्न अर्थ दिये हुए होते हैं। साथ ही, चूँकि ग्रंथ बहुवाचक होते हैं अतः अध्ययन का उद्देश्य एकात्मक एवं एकवाची अर्थ की पुनर्प्राप्ति नहीं होनी चाहिए। एकात्मक एवं संसक्त अर्थ की खोज के स्थान पर अध्ययन को ग्रन्थ में अभिनिहित अर्थों की विविधता पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, इसे स्वयं को आधारभूत आशय अथवा सर्वोचित उपयुक्त अर्थ की प्राप्ति तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए। अर्थमीमांसा के द्वारा (लेखक अथवा प्रथम पाठक के द्वारा) स्थापित अर्थ की पुनर्प्राप्ति का प्रयास उत्तर–आधुनिकतावाद के अनुसार ऐसे संप्रत्ययात्मक समापन को जन्म देता है,जिससे बचना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। अतः अर्थमीमांसा की यह मान्यता कि ग्रंथ का एक पूर्वनिर्धारित अर्थ होता है जिसे प्रारंभिक पाठक ही समकालीन जगत् के संदर्भों के माध्यम से प्राप्त कर सकता है, चुनौती का विषय रहा है। इसके साथ ही यह विचार भी अस्वीकार्य है कि ग्रंथ/शब्दों का विशेष संदर्भ में एक एकात्मक अर्थ होना चाहिए। एकात्मक अर्थ का अस्तित्व स्वयं में ही एक संदिग्ध विषय है। उत्तर–आधुनिकतावाद के अनुसार प्रत्येक आचरण एवं उच्चारण स्वयं में बहुवाचक ही होता है। ऐसा नहीं है कि शब्द विभिन्न संदर्भों में रखे जाने पर ही विभिन्न अर्थ ग्रहण करते हैं अपितु यह बहुवाचकता उनमें अंतर्निहित होती है (लैकलाव, 1970: 29)। अतः यह महत्त्वपूर्ण है कि इस बहुवाचकता का प्रयोग शब्दों एवं ग्रंथों से उन अर्थों को प्राप्त करने के लिए किया जाए जो सम्भवतः न तो लेखक का आशय हो और जिसे प्रारम्भिक पाठकों ने पूर्णतः अनदेखा कर दिया हो (देरिदा 1982:317)।

इस प्रपत्र में अब तक हमने अध्ययन एवं विवेचन के ऐसे दर्शन का वर्णन किया है जो कि बहुवाचकता की अवधारणा पर आधारित है। अब हम इससे निगमित ग्रंथ की अवधारणा की चर्चा करेगें। इस संदर्भ में संम्भवतः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उत्तर–आधुनिक कथन यह है कि (बहुवाचकता के गुण से युक्त होने के कारण) ग्रंथ मुक्त, भ्रामक एवं असंसक्त होते हैं। क्योंकि एक संसक्त एवं एकात्मक ढाँचा सदैव ही अभिज्ञेय एवं एकात्मक अर्थ के साथ संप्रयुक्त होता है, अतः असंसक्ता एवं भ्रामकता को बहुवाचक ग्रंथों के निर्धारक गुण के रूप में स्वीकार किया गया एवं चूँकि बहुवाचकता समस्त ग्रंथों का गुण है अतः परिणामस्वरूप यह जीवन, इतिहास, संस्कृति और यहाँ तक कि विन्यास का भी गुण है। चूँकि असंसक्तता एवं भ्रामकता समस्त ग्रंथों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के गुण हैं, अतः उत्तर–आधुनिक अध्ययन ने कभी भी इन गुणों की उपेक्षा का प्रयास नहीं किया। इसके स्थान पर उत्तर–आधुनिकतावाद ने इन गुणों को संज्ञान में लिया एवं उन्हें ऐसे सकारात्मक मूल्यों में परिवर्तित कर दिया जिनका पालन किसी भी विश्लेषक/पाठक से अपेक्षित होता है। उत्तर–आधुनिकतावादियों के अनुसार अध्ययन को ग्रंथ में उपलब्ध असंसक्ता एवं भ्रामकता पर ही केंन्द्रित होना चाहिए। इसके लिए भाषा में प्रयुक्त रूपकालंकारों, समास चिन्हों एवं शब्दों के समान उद्भवों को समझना अपेक्षित है। ऐसी युक्तियों के द्वारा ही एक सुधी–पाठक ग्रंथ में अन्य अर्थों के स्राव को अनुमति देकर ग्रंथ को एक–अर्थीय स्वरूप के बंधन से मुक्त कर और अधिक लचीला स्वरूप प्रदान करने का प्रयास करता है। अब प्रगति एवं मुक्ति को मानव इतिहास के सार्वभौमिक अथवा एकात्मक परियोजना के रूप में स्वीकार करना प्रासंगिक नहीं रहा और न ही इतिहास को अनेकानेक व्यक्तिगत परियोजनाओं के कोश के रूप में स्वीकार करना प्रासंगिक है। प्रत्येक परियोजना के स्वयं में अनेकों आयाम संभव हैं। लैकलाव के अनुसार अब हम मुक्ति की चर्चा नहीं कर सकते : उसके स्थान पर हमें मुक्ति की अनेक संभावित परियोजनाओं (अथवा मुक्तियों) की चर्चा करनी चाहिए। इसी प्रकार संस्कृति को भी अब किसी एक भाषायी खेल अथवा किसी एक सहभागी इतिहासपरक आत्मा के संदर्भ में परिभाषित नहीं किया जा सकता। समान स्थल पर अनेक भाषायी खेलों का समायोजन संस्कृतियों को इस प्रकार मुक्त करता है कि वे भिन्नतायें जो अब तक़ संस्कृतिक जीवन से परे मानी जाती थीं, उन्हें भी अब मुख्य धारा में समाहित किया जाने लगा है। इस बहुलतावाद ने संस्कृतियों को 'अन्य' के प्रति अधिक संवेदनशील बनाया एवं बहुलता व विविधता के सह–अस्तित्व से उत्पन्न मुद्दों पर चिन्तन के लिए प्रेरित भी किया।

उत्तर–आधुनिकतावाद ने दमित 'अन्य' को एक प्रमाणिकता प्रदान की। मुक्ति की बहुलतावादी परियोजनाओं से प्रभावित होकर इसने विभिन्न समूहों के संघर्षों को विधिक मान्यता प्रदान की– जैसे कि महिलाओं, पर्यावरणविदों, नस्लीय समूहों, अप्रवासियों, अश्वेतों, छात्रों इत्यादि। इस संदर्भ में उत्तर–आधुनिकतावाद ने एक विशिष्ट पहचान के रूप में 'स्व' को परिभाषित करने में विद्यमान सीमितताओं पर भी अपना ध्यान केन्द्रित किया। साथ ही यहाँ 'स्व' को अनेकानेक पहचानों के धारक प्रत्यय के रूप में भी प्रस्तुत किया गया : जैसे कि वर्ग, जाति, लिंग, नस्ल, क्षेत्र अथवा राष्ट्र की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पहचान इत्यादि। इन प्रत्ययों ने मुक्ति के नवजागरणवादी वर्णन में विद्यमान समरूप विषयों को पूर्णतः विस्थापित कर दिया। इस प्रकार विविधता, विभिन्नता एवं बाहुल्यंता पर बल देने के परिणामस्वरूप ऐसे सैद्धान्तिक दृष्टिकोण की उत्पत्ति हुई जिसके माध्यम से मार्क्सवाद के पराभव एवं मुक्ति की अन्य परियोजनाओं की सापेक्षिक सफलता एवं महत्त्व को समझना कदाचित् सुगम हो गया।

द्रष्टव्य है कि विविधता, विभिन्नता एवं बाहुल्यता उत्तर–आधुनिकतावाद के मात्र एक पक्ष को उजागर करते हैं। इन प्रत्ययों से उत्पन्न परिज्ञान के अनुपूरक के रूप में बहुवाचकता के अन्य आयामों (उदाहरणार्थ– भ्रामकता, असंसक्ता एवं ग्रंथो में व्याप्त अपूर्णता) को भी सन्दर्भित करना अपेक्षित प्रतीत होता है। दार्शनिक ग्रंथों के अध्ययन में उक्त तत्त्वों का समावेश जहाँ एक ओर संसक्त अर्थ के अभाव का संकेत देता है, वहीं अध्ययन की प्रक्रिया में निहित आलोचनात्मक सामर्थ्य के महत्त्व को भी रेखांकित करता है। जब इन्हें मानव जीवन से सम्बन्धित ग्रंथों पर आरोपित किया जाता है, तो ये संसक्ता, निरंतरता एवं वर्णननीयता के अभाव के औचित्य को स्वतः सिद्ध कर देते हैं। वस्तुतः ये तत्त्व 'खण्डित मनस्कता' का उत्सव मनाते हैं एवं इस दैनिक जनजीवन के नियम के रूप में भी प्रतिष्ठित करते हैं। परिणामस्वरूप ये सामाजिक जीवन एवं सामाजिक–पारस्परिकता की संभावनाओं को भी दुर्बल बनाते हैं। साथ ही विभेदों की महत्ता एवं सहभागी जगतों के विषय में इसकी मूकता ने समाज को एकाकी, चिद्णुस्वरूप व्यक्ति विशेषों के समूह के रूप में सीमित कर दिया। सहभागिता पर आधारित भाषाई खेलों एवं अर्थों के विषय में उत्तर–आधुनिकतावाद की अरुचि एक ऐसे खण्डित जगत् के चित्रण को समर्थन देती है, जिसमें परस्पर समझ ही नहीं अपितु परस्पर संवाद भी असंभव प्रतीत होता है। इसके विपरीत अर्थमीमांसावाद ने अर्थों के सहभागी जगत् पर बल दिया एवं यह स्वीकार किया कि समान ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक जगत् में निवास करने वाले व्यक्तियों के मध्य परस्पर संवाद स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाता है। सामाजिक जीवन के इस सहभागी आयाम को महत्त्व देते हुए अर्थमीमांसावादी चिन्तक सम्भवतः इस बात से अवगत थे कि ग्रंथों में अवशेषात्मक अर्थ भी विद्यमान होते हैं तथा कभी–कभी ये अर्थ श्रोता के लिए अज्ञेय भी हो सकते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सम्भवतः इन सम्भावनाओं की इसलिए उपेक्षा कर दी गयी क्योंकि परस्पर संवाद एवं समझ के लिए अर्थों की सहभागिता एक अनिवार्य पूर्वमान्यता है : यह सामाजिक जीवन का आधार है। दूसरी ओर उत्तर-आधुनिकतावाद ने आंतरिक विभेदों पर अपना ध्यान केंद्रित करते हुए सामाजिक जीवन में परस्पर-संवाद एवं समझ को यथोचित महत्त्व नहीं प्रदान किया। अतः यद्यपि विभेद का यह उत्तर-आधुनिक विचार एक ऐसे मंच का सृजन करता है जिसमें विविधताओं को समाहित किया जा सके, तथापि संसक्ता एवं वर्णननीयता का यह अभाव समाज को एक काल्पनिक संस्था के रूप में सीमित कर देता है।

इस परिप्रेक्ष्य में सामाजिक जगत् का यह विखण्डन भ्रामकता, असंसक्ता एवं आन्तरिक अपूर्णता से युक्त सामाजिक संरचना में निहित उत्तर-आधुनिकतावादी आस्था का ही प्रतीक है एवं 'सभी सम्बन्धों के अस्थाई स्वरूप को स्वीकार करता है'। वे तर्क देते हैं कि इन संरचनाओं में व्याप्त भ्रामकता एवं अपूर्णता विशेष संसक्तता की प्राप्ति की आनुभविक असंभाव्यता का परिणाम कदापि नहीं है, अपितु कुछ ऐसा है जो आरम्भ से ही इन संरचनाओं में कार्य कर रहा है (लैकलॉव, 1990: 28)। अतः एक नियामक विचार के रूप में भी, संसक्तता के ढाँचे पर प्रश्न तो उठना ही चाहिए (लैकलॉव 1990: 29)। यद्यपि सामाजिक संरचनाओं में व्याप्त आन्तरिक अस्थायित्व को ऐतिहासिक प्रक्रियाओं एवं बहुलतावादी पहचान के अनिर्धारित स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए संदर्भित किया गया था, तथापि इस विचार ने (अंततोगत्वा) इस संरचना के सम्पूर्ण अस्तित्व को ही अस्त-व्यस्त कर दिया। अब कोई भी व्यक्ति व्यवस्थित नियमितताओं एवं उनके सम्भावित परिणामों की चर्चा नहीं करता। इस संरचना पर प्रश्न उठाने के अलावा जीवन एवं सामाजिक संरचनाओं में निहित संसक्ता के उत्तर-आधुनिक निषेध ने सम्भावित व्याख्याओं को भी असम्भव बना दिया। पूर्व में भी, ऐतिहासिक नियतिवाद के आलोचकों ने विकास के अपरिवर्तनशील नियमों की सम्भावना पर प्रश्न उठाए थे एवं ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनावश्यक नियतिवाद को इंगित किया था। उन्होनें यह तर्क दिया था कि विभिन्न संरचनाएँ (जिनमें से प्रत्येक प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम हैं) परस्पर संयोजन के द्वारा ऐसे प्रभाव (परिणाम/घटना) को उत्पन्न कर सकती हैं, जो न तो पूर्वनियत हों और न ही किसी विशेष प्रमुख संरचना का फलन मात्र हों। इसी प्रकार, वैयक्तिक रूप में नगण्य चर भी अन्य के साथ संयोजित होने पर ऐसे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिणाम उत्पन्न कर सकते हैं जो हमारी सामाजिक अपेक्षाओं से पूर्णतया भिन्न हों। इन दोनों तर्कों ने किसी भी निश्चित पूर्वानुमान को असम्भव बना दिया एवं मानव हस्तक्षेप व परिणामों में बदलाव के लिए एक मंच प्रदान कर दिया। यद्यपि ऐसा करने में उन्होंने विविध चरों के मध्य परस्पर संवाद की व्यवस्था पर न तो प्रश्न उठाए और न ही किसी भी संरचना के विशेष परिणाम उत्पन्न करने के सामर्थ्य पर संदेह किया। उन्होनें मात्र इस निष्कर्ष को चुनौती दी कि एक विशेष संरचना का प्रभुत्व निश्चित रूप से ऐतिहासिक घटनाओं को पूर्वनिर्धारित कर सकता है।

जहाँ एक ओर उत्तर–आधुनिकतावाद ने ऐसी प्रतिज्ञप्तियों पर प्रश्न उठाए, वहीं असंसक्तता एवं भ्रामक संरचनाओं से सम्बन्धित उत्तर–आधुनिकतावादी विचारों ने सुव्यवस्थित नियमितता एवं सरंचना के अस्तित्व को चुनौती दी। वस्तुतः उनके विश्लेषण में सामाजिक संरचनाओं की अवधारणा को विस्थापन (dislocations) की अवधारणा से बदल दिया। क्या स्थान की निर्धारकता, संरचनात्मक सुव्यवस्था एवं विशिष्ट पहचान की पूर्व समझ के बिना भी विस्थापन की अवधारणा को स्वीकार किया जा सकता है या नहीं?– ऐसे मुद्दे प्रायः अपरीक्षित ही रह गये। ऐसे में विस्थापन का कोई भी वर्णन एक पहेली मात्र बनकर रह जाएगा।

इन प्रश्नों के परे, नियमितता, संसक्तता एवं निर्धारकता का निषेध समस्त व्याख्याओं की संभावनाओं को भी समाप्त कर देता है– चाहे वह व्याख्याएँ पूर्ण हों अथवा अपूर्ण, सीमित हों अथवा सार्वभौमिक, एकपक्षीय हों अथवा निष्पक्षीय। अब हम अपने पूर्वकथन पर वापस लौटते है जहाँ ऐतिहासिक नियतिवाद एवं निगमनात्मक एकतर्कीय व्याख्याओं के आलोचकों ने पूर्वानुमान एवं व्याख्या को विभेदित किया और यह तर्क प्रस्तुत किया कि यद्यपि हम पूर्वानुमान तो प्रस्तुत नहीं कर सकते किन्तु हम एक अनौपचारिक व्याख्या तो प्रदान कर ही सकते हैं। उदाहरण के लिए, हम यह पूर्वानुमान तो नहीं लगा सकते कि बंदूक से चली गोली कहाँ पर जाकर दीवार से टकराएगी, किन्तु गोली के दीवार पर एक विशेष स्थान से टकराने के पश्चात् हम यह व्याख्या अवश्य दे सकते हैं कि वह गोली वहीं क्यों टकराई जहाँ वह टकराई है (एरनसन् 1984: 64–65)। अर्थात् उसके प्रक्षेप पथ का पद्धतिमूलक एवं अल्पकालिक विवेचन करके यथार्थता की मुक्त व्यवस्था को सीमित कर सकते हैं एवं विभिन्न चरों के क्रिया–कलापों के आधार पर अनुमानित कर सकते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उत्तर–आधुनिकतावाद ने एक संसक्त संरचना के अस्तित्व एवं समापन की संभावना पर आपत्ति जताई। यहाँ तक कि पद्धतिमूलक समापन को भी इसने अर्थों का निश्चयीकरण ही माना एवं नियतिवाद के समानार्थी के रूप में स्वीकार किया। अनिर्धारणता के प्रति उत्सुकता में सम्भवतः उसने इस तथ्य की उपेक्षा कर दी कि प्रत्येक कथन/आचरण किसी न किसी समापन का ही आरम्भ होता है। जहाँ परिस्थितियों में खुलेपन एवं विकल्प की संभावना विद्यमान होती है वहीं आचरण एक निर्धारित अन्त तक अवश्य पहुँचते हैं। मानव आशय सदैव ही सम्पादित हो पाएँ यह आवश्यक नहीं एवं भिन्न व्यक्ति परिस्थितियों का आकलन भिन्न रूपों में कर सकते हैं, किन्तु व्यक्तिगत आचरण की परिकल्पना एवं सम्पादन परिस्थितियों को निश्चित अर्थ प्रदान करता है। अतः एक सीमा तक समापन की अवधारणा भी सामान्य जीवन के लिए अनिवार्य है, यह न तो कोरी कल्पना है और न ही सीमित आकाँक्षा। सारांशतः हम यह कह सकते हैं कि बहुवाचकता की अवधारणा के दो सह–सम्बन्ध हैं : विभिन्नता एवं अनिर्धारकता। जहाँ तक निर्धारकता का सम्बन्ध अनिवार्यता से है, वहाँ तक उत्तर–आधुनिकतावादी अनिर्धारकता को अनिवार्यता–विरोधी एवं आधारवाद–विरोधी कर्त्ता के रूप में स्वीकार करते हैं एवं इस सम्पूर्ण परियोजना को एक सकारात्मक स्वरूप प्रदान करते हैं। अनिर्धारकता के नियम किसी भी प्रकार के (वस्तुओं में) अनिवार्य गुणों के आरोपण एवं अन्य वस्तुओं से अनिवार्य सम्बन्ध का निषेध करते हैं। अनेक उत्तर–आधुनिकतावादी अनिर्धारकता को ग्रंथ की असंसक्तता एवं भ्रामकता के रूप में भी परिभाषित करते हैं। उनके अनुसार जीवन एवं इतिहास जैसी सामाजिक संरचनाएँ असंसक्त, अस्थाई एवं भ्रामक हैं। जैसा कि हमने पहले भी देखा, ग्रंथ की यह समझ सामाजिक जगत् को विखण्डन की ओर ले जाती है एवं एक मिथक में परिवर्तित कर देती है। ज्ञानमीमांमीय स्तर पर एकवाचकता (यह दावा कि किसी भी निश्चित संदर्भ में शब्दों अथवा कथनों का एकवाचक अर्थ ही सम्भव है) का यह निषेध सापेक्षतावाद के बंधन मुक्त कर देता है।

अतः अनिवार्यता–विरोध का असंसक्तता एवं भिन्नता के साथ स्थापित यह उत्तर–आधुनिकतावादी समीकरण अनेक विश्लेषणात्मक समस्याओं को जन्म देता है। पहले तो यह सामाजिक तत्त्वों की आंशिक व्याख्या को भी अस्वीकार कर देता है और साथ ही, इस अस्वीकार्यता के परिणामस्वरूप समाज की समझ एवं जगत् में संवाद अत्यन्त दुष्कर प्रतीत होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निष्कर्षतः, यह अपेक्षित है कि उत्तर–आधुनिकतावाद के द्वारा अनिवार्यता के विरोध को उनकी प्रतिज्ञप्तियों में प्रतिबिम्बित (ग्रंथों की) असंसक्तता, भ्रामकता एवं अपूर्णता के साथ जोड़कर न देखा जाए। इन दोनों का यह विलगाव सम्भवतः ऐसी विरासत को जन्म देगा जिससे समस्त सामाजिक विज्ञान प्रभावित होगें।

दर्शनशास्त्र विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ (उ.प्र.)

सन्दर्भ ग्रन्थ –

– *Aronson, J.L.,1984, Realist Philosophy of Science, Macmillan, London.*
– *Bannet, E.T., 1989, Structuralism and the Logic of Dissent, Metheun, London.*
– *Buckle, H.T., 1930, Civilization in England, Vol.I, Watts and Company, London.*
– *Bury, J.B., 1970, "The Science of History" in F.Stem (ed.) Varieties of History: From Voltaire to Present, Macmillan, London.*
– *Derrida, J.,*
-1976, Of Grammatology, (tr.) G.C.Spivak, The John Hopkins University Press, Maryland, Baltimore.
-1982, Margins of Philosophy, (tr.) Alan Bass, Chicago University Press, Chicago.
– *Dilthey, W., 1988, Introduction to the Human Sciences, (tr.) R.J.Betanzos, Harvester, Wheatsheaf, London.*
– *Hanson, N.R., 1981, "Observation as Theory Laden", in S.Brown, J, Fauvel and R. Finnegen (eds.) Conceptions of Enquiry, Metheun and Company (in association with) Open University Press, Newyork.*
– *Harvey, D., 1989, The Condition of Postmodemity, Basil Blackwell, Oxford.*
– *Heller, A and F. Feher, 1988, The Postmodem Political Condition, Polity Press, Cambridge.*
– *Helvacioglu, Banu, 1992, The Thrills and Chills of Postmodemism, 'The Westem Vertigo', Studies in Political Economy, Vol.38.*
– *Herder, J.G. Von, 1969, On Social and Political Culture, (tr. and ed.) F.M.Bemard, Cambridge University Press, Cambridge.*
– *Hodges, H.A., 1949, Wilhelm Dilthey: An Introduction, Routledge and Kegan Paul, London.*
– *Jameson, F., 1991, Postmodemism on the Cultural Logic of Late Capitalism, Verso, London.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

- Kuhn, T., 1977, 'Second Thoughts on Paradigms' in F.Suppe (ed.) The Structure of Scientific Theories, University of Illinois.
- Laclau, E., 1990, New Reflection on the Revolutions of OurTimes, Verso, London.
- Lyotard, J.F.,
  -1987, The Postmodern Condition: A Report on Knowledge, (tr.) G.Bennington and B.Massumi, Manchestor University Press.
  -1988, The Different Phases in Dispute (tr.) G. Van Der Abbele, University of Minnisota Press, Minnespolis.
- Mahajan, G., 1992, Explanation and Understanding in the Human Sciences, Oxford University Press, Delhi.
- Popper, Karl, 1966, Open Society and its enemies, Vol.I, Routledge and Kegan Paul, London.
- Reill, P.H., 1975, The German Enlightenment and the Rise of Historicism, University of California Press, Berkeley.
- Rorty, R.,
  -1980, Philosophy and the Mirror of Nature, Basil Blackwell, Oxford.
  -1986a, 'The Contingency of Language', London Review of Books, April 17.
  -1986b, 'The Contingency of Selfhood', London Review of Books, May 8.
  -1986c, 'The Contingency of Community', London Review of Books, July 24.
  -1989, 'Philosophers, Novelists and Inter-Cultural Comparisons: Heidegger, Kunders and Dickens', paper presented at the sixth East-West Philosophers Conference, Honolulu, July 31 - Aug 11.
  -1990, 'A Pragmatist View of Rationality and Cultural Difference', paper presented in Delhi, Dec 26.
- Vollmer, K.M. (ed.) 1986, Hermeneutics: A Reader, Basil Blackwell, Oxford.

◆◆◆

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आधुनिकता एवं उत्तर-आधुनिकता अंतर-संवाद के ज्ञानमीमांसीय संदर्भ

संजय कुमार शुक्ला

आधुनिकता तर्कबुद्धि की परिसीमा में यूरोपीय प्रबोधन काल के मानवतावादी प्रगतिशील कार्यक्रमों के क्रियान्वयन की ऐतिहासिक उपलब्धि है। उत्तर–आधुनिकता को आधुनिकता की समीक्षा के रूप में ग्रहण किया जाता है, जो हुस्सर्ल, हाइडेग्गर, डेरिडा एवं फूको आदि के अथक प्रयासों का प्रतिफल है। वे इस प्रकार का तर्क करते हैं कि आधुनिकता की प्रायोजना के केन्द्र में प्रबोधनकालीन द्वन्द्वन्याय है जिसमें मिथ्या सार्वभौमिकतावाद समाहित है, जो मौलिक भिन्नताओं (प्रजाति अथवा नृजाति अथवा लिंग) की उपेक्षा करता है और जिसकी परिणति आधिपत्य के विभिन्न रूपों में हुई है।[1] हैबरमास आधुनिकता की कड़ी को हीगल की बौद्धिकता में खोजते हैं। "आत्मनिष्ठता अथवा व्यक्तिनिष्ठता" ही वह केन्द्रीय प्रत्यय है जो हैबरमास की दृष्टि में हीगल की "स्वतंत्रता" एवं "विमर्श" के प्रत्यय द्वारा निरूपित है। यह व्यक्तिनिष्ठता चार मूल अभिधानों अथवा अर्थों को धारण करती है : व्यष्टिवाद, समीक्षा का अधिकार, कर्म की स्वायत्तता एवं प्रत्ययवादी विचार। इन्हें अत्यन्त ही सहजता से आधुनिकता के आत्म–अवबोध का माध्यम माना जाता है। हम इन सभी विशिष्टताओं को देकार्त, काण्ट एवं हीगल के दर्शन में पाते हैं। काण्ट के प्रत्ययवादी विचारधारा का यह वैशिष्ट्य है कि "किसी भी निर्णय अथवा ज्ञान की वैधता के दावे का परीक्षण बुद्धि को निर्णय के सर्वोच्च पीठ पर में पहले से ही प्रतिष्ठित करता है।"[2] आधुनिकता की प्रायोजना "पाश्चात्य तर्कबुद्धि के क्षितिज" के अंत्तर्गत आत्मचेतना, प्रामाणिक आत्म–सिद्धि एवं आत्म–निर्धारण द्वारा संरचित होती है। "बौद्धिक संरचनाओं के वस्तुकरण" का परिणाम ही संस्कृति एवं समाज का बौद्धिकीकरण एवं लौकिकीकरण है। अतः आधुनिकता की प्रायोजना व्यष्टिवाद, सार्वभौमिकतावाद, समानतावाद एवं उन्नयनवाद को अपने में सम्मिलित करती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उत्तर–आधुनिकता में महा–आख्यान का खण्डन, निरपेक्ष एवं सार्वभौम सत्य का निषेध और प्रबोधन काल के बूर्जुआ अभिजात्य संस्कृति का खण्डन निहित होता है। आधुनिकता को धार्मिक रूढ़ितावाद, अंधविश्वास एवं धार्मिक अनुपालन के विरुद्ध मानवतावादी प्रतिक्रिया मानना सर्वथा उचित है। यूरोपीय प्रबोधन बौद्धिक आत्मा, वस्तुनिष्ठ सत्य अथवा नियम, व्यवस्था, प्रगति आदि के महत्त्व पर बल देता है। आधुनिकता के मूलभूत प्रवृत्तियों को इस रूप में रेखांकित किया जा सकता है :–

1. एक स्थायी आत्मा है जिसे जाना जा सकता है और जो बदलते अनुभवों के बीच अपनी संसक्तता बनाये रखती है। वह अपने स्वरूप में चेतन, बौद्धिक और सार्वभौम है।
2. आत्मा स्वयं एवं जगत् को बुद्धि अथवा विवेक द्वारा जानती है। बौद्धिक आत्मा का वह ज्ञान जिसे वस्तुनिष्ठ प्रारूप में अधिगत किया जाता है, वही विज्ञान है।
3. विज्ञान द्वारा उत्पन्न ज्ञान सदैव प्रगति एवं विकास के मार्ग को प्रशस्त करता है। समस्त मानवीय संस्थाओं एवं प्रथाओं का विश्लेषण एवं परीक्षण बौद्धिकता तथा वस्तुनिष्ठता के धरातल पर विज्ञान करता है, और इनके परिष्कार की भी संभावना इस प्रकार के विश्लेषण में निहित रहती है।
4. बुद्धि अथवा विवेक सत्य, उचित एवं शुभ के संदर्भ में अंतिम रूप से निर्णायक है। उन नियमों का पालन जो बौद्धिक ज्ञान के अनुरूप हैं, उसी में स्वतंत्रता निहित है।
5. भाषा अथवा अभिव्यक्ति के प्रकार को पारदर्शी होना चाहिए, ताकि उसके द्वारा उत्पन्न और प्रसारित ज्ञान को अनुभूत जगत् का विश्वसनीय प्रतिनिधि कहा जा सके।

I

उत्तर–आधुनिकता आधुनिकता के विरूंद्ध अपनी असहमति को महा–आख्यान एवं बौद्धिकता के सिद्धान्त के खण्डन द्वारा प्रस्तुत करती है। हैबरमास की आधुनिकता की प्रायोजना के संदर्भ में समीक्षात्मक दृष्टि 'संप्रेषणीय बुद्धि' को प्रस्तावित करने से उदघाटित होती है, जो स्वरूपतः 'विषयी–केन्द्रित बुद्धि' के विपरीत है। आधुनिकता की 'विषयी–केन्द्रित बुद्धि' का आधार बौद्धिकता का सिद्धान्त है, जो वस्तुनिष्ठता एवं सार्वभौमिकता के प्रत्ययों पर आधारित है। संप्रेषणीय बुद्धि की बौद्धिकता वक्ता एवं कर्त्ता की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मनोवृत्ति में मूलित होती है जो कि ज्ञान प्राप्ति का साधन है। विषयी–केन्द्रित बुद्धि का निकष सत्य एवं सफलता के मानक को समाविष्ट करता है, जो कि ज्ञाता एवं सचेष्ट कर्त्ता के सम्बन्ध को संभाव्य वस्तुओं के जगत् अथवा वस्तु–स्थिति के साथ निर्धारित करता है। हम जब ज्ञान को संप्रेषणीय रूप में विचारित करते हैं तो बौद्धिकता का मूल्याँकन जिम्मेदार सहभागियों की क्षमता पर अवलम्बित होती है। यहाँ पर वैधता का दावा अंतरवैयक्तिक अभिज्ञान के आधार पर स्वीकृति प्राप्त करता है। संप्रेषणीय बुद्धि की अभिव्यक्ति जगत् का विकेन्द्रित अवबोध है।[3] हाइडेग्गर के अनुसार आधुनिकता की उत्पत्ति तत्त्वमीमांसीय परंपरा में सत्ता के प्रश्न का मूर्त ऐतिहासिकता में असफल चिंतन का परिणाम है। वे आधुनिकता को शून्यवाद (असत्तावादी) से अभिहित करते हैं, क्योंकि वह जीवन के समस्त यथार्थ अनुभूतियों से वंचित है। उनकी दृष्टि में मनुष्य की प्रामाणिकता उसके वैयक्तिक चुनाव एवं अन्य के प्रति प्रतिबद्धता में अंतर्निहित होती है। जीवन की निरर्थकता (निःसारता) को आधुनिक तकनीकी–वैज्ञानिक विश्वदृष्टि में गंभीरतम चुनौती के रूप में स्वीकार किया जाता है। आधुनिकता का प्रमुख लक्ष्य विषयिनिष्ठ आत्मा की गवेषणा एवं विस्तारण है। बुद्धि की क्षमता आत्मा की स्वायत्तता से संबद्ध होकर मनुष्य में प्रकृति को नियंत्रित, संचालित एवं दोहन की अदम्य इच्छा को प्रस्फुटित करती है। उत्तर–आधुनिकता आत्मिक विश्रृंखलता एवं उसकी सांस्कृतिक निष्पत्तियों को बौद्धिकरूपेण व्यवस्थित आत्मा से श्रेष्ठ मानती है। विभाजित स्व (आत्मा) की भग्न, विखण्डित अवस्था को उत्तर–आधुनिकता में अत्यन्त महत्त्व प्रदान किया गया है। उत्तर–आधुनिकतावाद में सहमति के प्रत्यय की आलोचना की जाती है और उसके फलस्वरूप संस्कृति के सैद्धान्तिक अधिष्ठान का खण्डन होता है।

आधुनिकता एवं उत्तर–आधुनिकता में पद्धतिमूलक अन्तर भी स्पष्टरूपेण दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि वह आधुनिकता के कठोर तर्कशास्त्र एवं बौद्धिकता के मानक का निषेध करती है। वह व्यवस्था–प्रणत चिंतन के अतिक्रमण का प्रयास करती है। आधुनिकता में अधिष्ठानवाद, सारतत्त्ववाद एवं प्रयोजनवाद जैसे सिद्धान्तों की केन्द्रीय भूमिक होती है, जो सामूहिक रूप से मानवीय विषयिता, बौद्धिकता, एकता, स्वतंत्रता और नैतिकता को समाहित करते हैं। उत्तर–आधुनिकता में इसके विपरीत स्वैरकल्पना, कामुकता, अनेकत्व, असातत्य, निर्बौद्धिकता एवं विखण्डन आदि प्रकरण सम्मिलित हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसके अंतर्गत सत्ता के विभिन्न प्रारूप हमें प्राप्त होते हैं, जो आपसी अन्तर–विरोधों को ही समृद्ध करते हैं। इसमें इतिहास को भग्न एवं विचलन के रूप में निरूपित किया जाता है, और इसमें सर्वाधिकारवादी चिंतन का मौलिक निषेध भी दृष्टिगोचर होता है।[4] कुछ विचारकों का मानना है कि उत्तर–आधुनिकता आधुनिकता का निषेध नहीं है, अपितु यह पुनर्संरचना एवं पुनर्व्याख्या है, जिसका उद्देश्य आधुनिकता को अभिनव अर्थ प्रदान करना है। ल्योटार्ड का यह अभिकथन उचित है कि "उत्तर–आधुनिकता का संपूर्ण विचार वस्तुतः आधुनिकता का पुनर्लेखन है। आधुनिक का अर्थ है जो पारंपरिक न हो, और आधुनिक होने का निहितार्थ है अतीत से विच्छेद एवं नवीन आत्म–चेतना के प्रकारों की खोज।"[5]

II

उत्तर–आधुनिकतावादी विचारधारा के अंतर्गत मार्टिन हाइडेग्गर, मिशेल फूको, जीन फ्रैंककोई ल्योटार्ड, रिचर्ड रोर्टी, जैकक्विस डेरिडा आदि आते हैं। उनकी मान्यता है कि आधुनिकता अपने आप में संकट ग्रस्त है, क्योंकि उसके सांस्कृतिक एवं सामाजिक विकास के दावे के बावजूद वह विलगाव एवं शोषण आदि समस्याओं से आक्रान्त है। ल्योटार्ड, अंपनी महत्त्वपूर्ण कृति '*दी पोस्टमॉर्डन कन्डीशन*' में प्रबोधन काल के अंत की उद्घोषणा करते हैं एवं जिसके अंतर्गत उसकी "महा–आख्यान" की परंपरा का निषेध परिलक्षित होता है। समग्र सार्वभौम सिद्धान्त– जो समस्त समस्याओं की व्याख्या एवं समाधान एक विशेष प्रकार के विचार द्वारा संभव मानता है– के प्रति अस्वीकृति का भाव उत्तर–आधुनिकता का परिचायक है। आधुनिकता में महा–आख्यान हमें इस रूप में प्राप्त होता है : आत्मचेतना का द्वन्द्वन्याय (हीगल), बौद्धिक आत्मा की मुक्ति (काण्टीय बौद्धिकता), सर्वहारा की निरंकुशता (मार्क्स) आदि। ल्योटार्ड उत्तर–आधुनिकता को 'महा–आख्यान के प्रति अविश्वास' एवं विखण्डन तथा बहुलवादी युग के रूप में परिभाषित करते हैं। डेरिडा ने सत्य एवं सत्ता की तत्त्वमीमांसा को विखंडित किया, और इस प्रकार वे एक–आयामी द्वन्द्वन्याय से अपने को संतुष्ट पाते हैं। सत्य एवं सत्ता के मार्ग में मूलभूत दोष सर्वाधिकारवादी बुद्धि के नियम हैं जिसे वे 'बुद्धि–केन्द्रिकता' से अभिहित करते हैं। मेरी क्लेग्स ने '*पोस्टमॉर्डनिज्म*' के अंतर्गत उत्तर–आधुनिकता की कुछ मौलिक विशेषताओं पर इस प्रकार प्रकाश डाला है :–

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

1. उत्तर–आधुनिकता "महा–आख्यानों" की समीक्षा है, क्योंकि इस प्रकार के आख्यान व्यवस्था अथवा सामंजस्य के समर्थन में अंतर्विरोध एवं अस्थायित्व को, जो कि किसी सामाजिक संस्थाओं अथवा प्रथाओं में अंतर्निहित होता है, प्रच्छादित करते हैं। उत्तर आधुनिकता वृहद् स्तर अथवा वैश्वीक सार्वभौम प्रत्ययों से संबद्ध "महा–आख्यानों" का खण्डन करते हुए अधिक परिस्थितिजन्य एवं अंतरिम "लघु–आख्यान" का पक्षधर है, जिसका सम्बन्ध लघु परम्पराओं एवं स्थानीय घटनाओं से है।
2. ज्ञान स्वयं में शुभ नहीं है, अपितु उसकी उपयोगिता एवं कार्यात्मकता अधिक महत्त्वपूर्ण है। ज्ञान को सत्य, शुभत्व, सौन्दर्य आदि का मूल्याँकन नहीं करना है, अपितु उसे यह देखना है कि कौन व्यक्ति यह निर्धारित कर रहा है कि ज्ञान क्या है, और वह जानता हो कि क्या निर्णीत होना है। ल्योटार्ड की दृष्टि में ज्ञान भाषा–खेल के प्रतिमान का अनुकरण करती है।
3. उत्तर–आधुनिकता निरपेक्ष, सार्वभौम एवं शाश्वत सत्य के विचार का खण्डन करती है, क्योंकि सत्य सामाजिक–ऐतिहासिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होता है। वह अधिष्ठानवाद का निषेध एवं उसे संदर्भवाद से प्रतिस्थापित करती है। सत्य का सार सामंजस्य नहीं है, अपितु सदैव उसके संदर्भाश्रित होने में है।
4. उत्तर–आधुनिकता में 'निरपेक्ष धर्म' के संप्रत्यय का विरोध परिलक्षित होता है। हम इस प्रकार के धर्म में 'सत्य के सर्वाधिकार' की प्रवृत्ति को पाते हैं जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उत्तर–आधुनिकता "धार्मिक अंतर्भाववाद" का समर्थन करते हुए नव्य युगीन धर्मों की ओर उन्मुख होती है।
5. उत्तर आधुनिकता किसी भी प्रकार के निरपेक्ष नैतिक मानदण्डों की संभावना का निरसन करती है, क्योंकि वे संस्कृतियों द्वारा निर्धारित होते हैं, और यह तो सुस्पष्ट ही है कि प्रत्येक संस्कृति का अपना वैशिष्ट्य एवं पृथक् वैयक्तिकता है। अतः वह "नैतिक सापेक्षतावाद" की दार्शनिक दृष्टि का अनुमोदन करती है।
6. उत्तर–आधुनिकता वस्तुतः प्रबोधन काल की बौद्धिकता के प्रति विद्रोह है। देकार्त के काल से ही पाश्चात्य दर्शन का प्रभावशाली प्रकरण मनुष्य–विषयी द्वारा वस्तुनिष्ठ जगत् का निरूपण है। ल्योटार्ड इस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं कि बुद्धि सदैव प्रत्ययों की संरचित व्यवस्था (निकाय) के अंतर्गत कार्यरत होती है, और यह व्यवस्था भावना एवं संवेग को बहिष्कृत करती है, किन्तु इस प्रकार का बहिष्कार कदापि संभव नहीं है।

उत्तर–आधुनिकता के उपर्युक्त चारित्रिक विशेषताओं के प्रकाश में उसके विरूद्ध अनेक आक्षेप विभिन्न दृष्टियों से संभव हैं। इस पदावली का प्रयोग प्रायः समाज की उन प्रवृत्तियों को दर्शाने के लिए किया जाता है जो कि पारंपरिक व्यवस्थाओं की नैतिकता के विरोधी हैं। उत्तर–आधुनिक समाज को नैतिक सापेक्षतावाद के रूप में कल्पित किया जाता है जो कि सभी प्रकार के विपथगामी व्यवहार के लिए उत्तरदायी है। रूढ़िवादी ईसाई धर्म के अनुयायियों की यह मान्यता है कि उत्तर–आधुनिकता शास्त्रों, पंथों, पाप स्वीकारोक्ति एवं कलीसियाई परंपरा के समक्ष गंभीर चुनौती प्रस्तुत करती है, जिन्हें वे अपनी धार्मिक आस्था की आधारशिला मानते हैं। हैबरमास अपनी महत्त्वपूर्ण कृति *'मॉडर्निटी : एन अनिफिनिश्ड प्रोजेक्ट'* के अंतर्गत उत्तर–आधुनिकता की रोचक समीक्षा "नव्य रूढ़िवाद" के रूप में करते हैं, क्योंकि यह निर्बौद्धिक एवं आधुनिकता की बौद्धिक कार्ययोजना के परित्याग के फलस्वरूप संभवतः अपनी प्रकृति में, फासीवादी है। उनकी दृष्टि में उत्तर–आधुनिकता की उत्पत्ति "प्रति–प्रबोधन काल" की समस्यात्मक परंपरा से है जो कि व्यक्ति की स्वायत्त बौद्धिकता को संकल्प एवं कल्पना के पक्ष में सीमित कर देती है। उनका यह प्रत्यावेदन है कि यद्यपि प्रबोधन काल पूर्णतया सिद्ध नहीं हो तो भी हमें उसे पुनः प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है। फ्रेर्डिक जेमसन ने मार्क्सवादी दृष्टि से उत्तर–आधुनिकता की प्रभावशाली समीक्षा इस रूप में की है कि वह "उत्तर पूँजीवाद" में मूलित है जो उपभोक्तावादी पूँजीवाद को प्रश्रय देती है। उपभोक्ता पूँजीवाद की यह विशेषता है कि इसके अंतर्गत बाजारीकरण एवं वस्तुओं के उपभोग पर अत्यधिक बल दिया जाता है न कि उनके उत्पादन पर। एलेक्स कैललिनिकोस ने *'अगेन्स्ट पोस्टमॉर्डनिज्म : ए मार्क्सिस्ट क्रिटीक'* के अंतर्गत उत्तर–आधुनिकता के विरूद्ध गंभीर आक्षेप निर्बौद्धिकता एवं डेरिडा तथा अन्य के शिथिल सापेक्षिकतावाद के रूप में प्रस्तुत किया है। नॉम चोमस्की की यह मान्यता है कि उत्तर–आधुनिकता निरर्थक है, क्योंकि वह आनुभविक एवं विश्लेषणात्मक ज्ञान में अभिवृद्धि नहीं करती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

III

आधुनिकता स्वतंत्र, निष्पक्ष गवेषणा एवं समस्याओं के समाधान में बौद्धिक दृष्टिकोण का अनुमोदन करती है। उत्तर–आधुनिकता की दृष्टि से यह बौद्धिकता का अतिशय अधिमूल्याँकन है जो सर्वथा अनुचित है। आधुनिकता बौद्धिक विश्वास को "संप्रत्ययात्मक संरचना", "तर्कणा की शैली", "सामाजिक इतिहास" एवं "वैज्ञानिक प्रतिमान" के रूप में कल्पित करती है, तो वहीं उत्तर–आधुनिक विचारकों की यह मान्यता है कि हमारे "बौद्धिक विश्वासों" का सन्दर्भात्मक निर्धारण होता है। बौद्धिकता का प्रयोग अधिमूल्याँकन और गवेषणा एवं निर्णय के उपकरण के रूप में होता है, जो यह निर्धारित करती है कि कौन सा विश्वास एवं कर्म वस्तुतः करने के योग्य (उचित) हैं। उत्तर–आधुनिकता की यहं मान्यता है कि जो हमें तर्कसंगत प्रतीत होता है वह संस्कृति अथवा ऐतिहासिक सन्दर्भों के सापेक्ष है। बुद्धि (तर्कबुद्धि) प्रायः शक्तिशाली अथवा सत्ताधारियों का पक्षपाती अथवा पूर्वाग्रह से युक्त उपकरण है जिसका उद्देश्य प्रबोधनकालीन परंपरा के मूल्यों एवं मताग्रहों का औचित्यीकरण है। यदि बौद्धिकता की समीक्षा यथोचित है तो उसका ज्ञानमीमांसीय औचित्य उपलब्ध साक्ष्य एवं बौद्धिक युक्तियों द्वारा नहीं, अपितु अंततः सामाजिक सहमति द्वारा निर्धारित होता है। यदि हम उत्तर–आधुनिक ज्ञानमीमांसा को स्वीकार करते हैं तो वस्तुनिष्ठ पूर्वाग्रह रहित गवेषणा को बौद्धिकता एवं सत्यान्वेषण का लक्ष्य नहीं प्रस्तावित कर सकते हैं। काल्विन, ने अपने सुप्रसिद्ध आलेख *'पोस्टमॉर्डनिज्म एण्ड लिबरल एजुकेशन'* में प्रतिपादित किया है कि उत्तर–आधुनिक दर्शन का स्वरूप प्रति–अधिष्ठानवादी है जो विभिन्न सामाजिक प्रथाओं के व्याख्यात्मक विश्लेषण में संलिप्त है। प्रति–अधिष्ठानवादी होने के कारण उत्तर–आधुनिक विचारकों की यह मान्यता है कि किसी विषय के संदर्भ में बहुविध प्रतिस्पर्द्धात्मक एवं समानरूपेण तर्कसंगत बौद्धिक दृष्टियाँ संभव हैं। उत्तर–आधुनिक विचारकों ने विश्लेषणात्मक पद्धतियों के स्थान पर आख्यान एवं व्याख्या को महत्त्व प्रदान किया है। इसके फलस्वरूप सार्वभौम पद्धतियों के प्रति समीक्षात्मक दृष्टि का विकास हुआ है। काल्विन का दावा है कि उत्तर–आधुनिक दर्शन अस्थिरता, परिवर्तित प्रतिमान, अनिश्चितता, असमानुपात की खोज है।[6] उत्तर–आधुनिकता आख्यानों की अनेकता, भाषा–खेलों की विभिन्नता एवं ज्ञान के विभिन्न आकारों को स्वीकार करती है। उसकी दृष्टि में सत्य के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समस्त दावे संदर्भमूलक अथवा परिप्रेक्ष्यात्मक होने के कारण संदर्भ सापेक्ष हैं। इसी के अंतर्गत विचारक वैचारिक निर्मिति करता है। उत्तर–आधुनिकतावाद संदर्भवादी ज्ञानमीमांसा को प्रतिपादित करती है, और उसकी यह मूल मान्यता है कि युक्तिसंगत (बौद्धिक) विश्वास स्वयं के प्रतिमान, जीवन–दृष्टि एवं संस्कृति द्वारा निर्धारित होती है। कोई भी विश्वास जो ज्ञानमीमांसीय औचित्य का दावा करता है वह सदैव संदर्भाश्रित है, और इसलिए हम किसी ऐसे विश्वास को कल्पित नहीं कर सकते हैं जिसका औचित्य अथवा प्रमाण समस्त संदर्भों का अतिक्रमण करे। थॉमस कून का दावा है कि किसी साक्ष्य विशेष को किसी विश्वास के लिए हम जब स्वीकार करते हैं तो वह संदर्भ अथवा प्रतिमान आश्रित होता है। यदि समस्त दावों की विवेकपूर्णता अथवा औचित्य संदर्भाश्रित हो तो कोई तार्किक निपुणता अथवा मूल्यात्मक प्रक्रिया सभी विधाओं पर आरोपित नहीं हो सकती है।[7]

ज्ञानमीमांसीय औचित्य की समस्या का पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा में विशेष महत्त्व है। अधिष्ठानवाद, सामंजस्यवाद एवं संदर्भवाद इत्यादि ज्ञानमीमांसीय औचित्यों की समस्या से ही संबद्ध विभिन्न सिद्धान्त हैं। अधिष्ठानवाद एवं सामंजस्यवाद आधुनिकता के प्रतिमान हैं, यद्यपि इन दोनों सिद्धान्तों में विश्वासों के औचित्य के स्वरूप को लेकर पर्याप्त मतभेद है। उत्तर–आधुनिकता में आधुनिकता के इन दोनों प्रतिमानों अथवा प्रारूपों पर निर्मम प्रहार किया गया है, और ज्ञानमीमांसीय औचित्यीकरण के लिए संदर्भवाद को सर्वथा नवीन प्रतिमान के रूप में प्रस्तावित एवं प्रतिष्ठित करने की प्रवृत्ति स्पष्टरूपेण परिलक्षित होती है। अधिष्ठानवाद के अंतर्गत कुछ प्रतिज्ञप्तियाँ अथवा सिद्धान्त इस अर्थ में मूलभूत हैं कि वे निरपेक्षरूपेण निश्चित, आधारिक एवं स्वतःसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त कुछ प्रतिज्ञप्तियाँ स्वरूपतः मूलभूत नहीं होती हैं और उन्हें औचित्य प्रदान किये जाने की आवश्यकता होती है। इसलिए वे मूलभूत प्रतिज्ञप्तियों से अनुमित होती हैं। अधिष्ठानवाद पिरामिड के रूपक का प्रयोग न्यायोचित विश्वासों की संरचना को विवेचित करने के लिए करता है। यह प्रत्यक्षात्मक विश्वासों की व्यापक आधारशिला को समाहित करता है। यथा वह विश्वास जो कि प्रत्यक्षात्मक अवस्था के अंतर्वस्तुओं को सूचित करते हैं, एवं इसके अतिरिक्त जागतिक विश्वासों की अधिरचना होती हैं और जो हमें यह सूचित करते हैं कि इस जगत् में क्या घटित हो रहा है। प्रत्यक्षात्मक विश्वासों का औचित्यीकरण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुमित न होकर, प्रत्यक्षात्मक अनुभूतियों द्वारा साक्षात्कृत होता है, तो वहीं अधिरचनात्मक विश्वासों का औचित्यीकरण सदैव अनुमित हुआ करता हैं। औचित्यीकरण की दिशा ऊर्ध्वमुखी होती है, क्योंकि हम यहाँ प्रतिज्ञप्तियों के क्रमिक (उत्तरोत्तर) अवस्थाओं को पाते हैं और इसे ज्ञान के पिरामिडीय प्रारूप से अभिहित किया जाता है।[8] शास्त्रीय अधिष्ठानवादी हमारे विश्वासों को दो वर्गों में विभक्त करते हैं : मूलभूत विश्वास जो हमारे ज्ञान की आधारिका हैं, एवं अधिरचनात्मक विश्वास जो कि मौलिक अथवा स्वतःसिद्ध विश्वासों पर निर्भर अथवा उससे निःसृत होते हैं। अधिष्ठानवाद के विरूद्ध प्रमुख आक्षेप है कि कोई भी विश्वास अभ्रान्त नहीं हो सकता है, और इसलिए हमारे मूलभूत विश्वास कदापि ज्ञान का अधिष्ठान नहीं हो सकते हैं। पॉपर का दावा है कि अधिष्ठानवाद जो कि असंदिग्ध निश्चितता को अतिशय महत्त्व प्रदान करता है, वस्तुतः भ्रान्तिमूलक पूर्वधारणा पर निर्भर है।[9] वे ज्ञान के असंदिग्ध (अंतिम) स्रोत के विचार का परित्याग अपरिहार्य मानते हैं, क्योंकि यह भ्रान्ति, पूर्वाग्रह, स्वप्न एवं प्रत्याशा आदि का मिश्रण है। पॉपर की यह मान्यता है कि हमारा ज्ञान निराधार कल्पना एवं खण्डन की विधि द्वारा विकसित होता है, और जिसे वे 'प्रयत्न एवं भूल' की विधि से व्यवहृत करते हैं। हम अपनी समस्याओं के समाधान का प्रयास निरसन की प्रक्रिया से करते हैं और जिसका लक्ष्य अंतरिम समाधानों में उपयुक्तता की दिशा में गमन है।[10]

IV

सामंजस्यवाद अथवा सुसंगतिवाद को अधिष्ठानवाद के विरोधी सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया जाता है। यह प्रत्यक्षात्मक अनुभूति के माध्यम से औचित्यीकरण की संभावना का निषेध करता है। इसकी दृढ़ मान्यता है कि विश्वासों का प्रमाणीकरण अथवा औचित्यीकरण मात्र अनुमान की प्रक्रिया से संभव है। डेविडसन के अनुसार सामंजस्यवाद का वैशिष्ट्य इसमें निहित है कि किसी विश्वास को स्वीकार करने का कारण (औचित्य) अन्य विश्वासों सामंजस्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है।[11] सामंजस्यवाद के अंतर्गत औचित्य का सम्बन्ध तीन सिद्धान्तों से है– 1. किसी विश्वास का औचित्य उस सीमा तक है जहाँ तक वह विश्वासी के अन्य विश्वासों के साथ सुसंगत अथवा सामंजस्यपूर्ण है। 2. किसी भी विश्वास की अंतर्वस्तु अन्य विश्वासों की तुलना में अधिक मौलिक अथवा मूलभूत नहीं हो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकती है। 3. कोई भी विश्वास निश्चित नहीं है क्योंकि स्वतःसिद्ध निश्चित विश्वासों का भी खण्डन सिद्धान्तः साक्ष्यों के आधार पर संभव है।[12] इसके विपरीत संदर्भवाद में अधिष्ठानवाद एवं सामंजस्यवाद दोनों के ही परिष्कार का प्रयास ज्ञानमीमांसीय औचित्यीकरण के संदर्भ में किया जाता है। यह आधारिक, स्वतःसिद्ध, अभ्रान्त प्रतिज्ञप्तियों अथवा विश्वासों की किसी भी संभावना का निषेध करता है, क्योंकि किसी भी विश्वास की सत्यता का निर्धारण अन्ततः संदर्भ पर आधारित है। संदर्भवाद में हम सामंज़स्यवाद के विरोध को भी पाते हैं, क्योंकि किसी विश्वास का औचित्य अथवा प्रमाण विश्वासों के समूह में परस्पर सामंजस्य में निहित नहीं होता है, अपितु उसका सत्यापन अथवा प्रमाणीकरण किसी विशेष संदर्भ अथवा दृष्टि द्वारा निर्धारित होता है। परिस्थितिमूलक संदर्भ किसी विशिष्ट विश्वास के ज्ञानमीमांसीय महत्त्व (सत्यता एवं वैधता) को उदघाटित करता है। हम इस प्रकार के संदर्भ से यह आपादित कर सकते हैं कि किसी व्यक्ति का साक्ष्य अथवा प्रमाण किसी एक संदर्भ में औचित्य के लिए पर्याप्त हो सकता है, जबकि अन्य परिस्थिति अथवा संदर्भ में उसके अपर्याप्त अथवा निष्फल होने की संभावना बनी रहती है। अतः संदर्भवाद की यह मान्यता है कि संदर्भित कारकों — यथा वक्ता का लक्ष्य, अभिप्राय, प्रत्याशा एवं वार्तालाप के समग्र उददेश्यों का औचित्यीकरण के मूल्यांकन में महती भूमिका होती है।

संदर्भवादियों की मूल दृष्टि यह है कि तर्कशास्त्र एवं बौद्धिक युक्तियों का उत्तर–आधुनिक परिदृश्य में कोई विशेष महत्त्व नहीं है। उत्तर–आधुनिक विचारकों की यह मान्यता है कि अधिष्ठानवादी ज्ञानमीमांसा में स्व–निर्देशात्मकता का दोष है एवं इसी कारण वह खण्डनीय है। अधिष्ठानवादी स्वीकार करते हैं कि किसी भी विश्वास का औचित्य या तो बौद्धिक अधिष्ठान के सदस्य के रूप में है जिसे किसी प्रमाण अथवा साक्ष्य की आवश्यकता नहीं अथवा वह उन प्रतिज्ञप्तियों अथवा विश्वासों से तार्किकरूपेण निःसृत होने में है जो अधिष्ठान में मूलित हों। अतः अधिष्ठानवाद में विश्वास अथवा दावा या तो असंदिग्ध एवं स्वतःसिद्ध है अथवा ऐन्द्रिक प्रमाण पर आश्रित होता है। अधिष्ठानवाद के समीक्षक इस प्रकार का तर्क करते हैं कि क्या अधिष्ठानवादी ज्ञानमीमांसा को परिभाषित करने वाली प्रतिज्ञप्तियाँ स्वतःसिद्ध एवं असंदिग्ध अथवा ऐन्द्रिक साक्ष्य पर आधृत हैं ? परन्तु वे न तो स्वतःसिद्ध और न ही ऐन्द्रिक प्रमाण पर निर्भर हैं,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और इस कारण से स्व–निर्देशात्मक दोष से ग्रसित हैं। लेकिन विडम्बना यह है कि संदर्भवादी ज्ञानमीमांसा की भी यही नियति है। संदर्भवादी यह दावा करते हैं कि सभी दावे अथवा विश्वासों की सत्यता संदर्भाश्रित है, तो अधिष्ठानवादी स्व–निर्देशात्मक दोष को इस रूप में प्रस्तुत करते हैं : यदि हम संदर्भवादी दावे को स्वीकार करते हैं तो उस दावे की सत्यता संदर्भ पर निर्भर करेगी, अर्थात् ऐसी स्थिति में उसे वस्तुनिष्ठ ज्ञानमीमांसीय औचित्य कदापि प्रदान नहीं किया जा सकता है। अतः इस आधार पर हम यह निष्कर्ष निंगमित कर सकते हैं कि संदर्भवाद भी स्व–निर्देशात्मक समस्या से आक्रान्त है। संदर्भवाद के समक्ष उभयतःपाश एक गंभीर चुनौती उस परिस्थिति में है जब वह उसके लिए साक्ष्य प्रदान करे। संदर्भवाद या तो यह स्वीकार करेगा कि सभी दावे अथवा विश्वासों का औचित्य संदर्भाश्रित है लेकिन यह कथन स्वयं में भी संदर्भ पर निर्भर है, अथवा इस कथन को स्वीकार करने का साक्ष्य अथवा आधार वस्तुनिष्ठ सत्यता अथवा वैधता है। यदि साक्ष्य में वस्तुनिष्ठता का तत्त्व है तो संदर्भवाद खण्डित होता है, क्योंकि कम से कम कुछ दावों की सत्यता अथवा तर्कसंगति, जो संदर्भवाद के लिए साक्ष्य अथवा प्रमाण हैं, संदर्भाश्रित नहीं हैं। अतः यदि संदर्भवाद के लिए वस्तुनिष्ठ साक्ष्य हैं तो वह अनुचित अथवा असत्य है, और यदि संदर्भवाद के लिए वस्तुनिष्ठ साक्ष्य का अभाव है तो उसे स्वीकार करने का कोई औचित्य अथवा आवश्यकता नहीं है।

V

ज्ञानमीमांसीय संदर्भवाद की समस्या से सांस्कृतिक सापेक्षतावाद भी समान रूप से ग्रसित प्रतीत होता है। सांस्कृतिक सापेक्षतावाद के अनुसार क्या नैतिक दृष्टि से उचित है अथवा अनुचित है, यह सदैव स्वयं की अपनी संस्कृति के सापेक्ष है। सांस्कृतिक सापेक्षतावाद जिस प्रकार स्वयं को वैयक्तिक नैतिक आत्मनिष्ठता में घटित करता है, उसी भांति संदर्भवादी ज्ञानमीमांसायें आत्मनिष्ठ ज्ञानमीमांसाओं में परिणत हो जाती हैं क्योंकि विशिष्ट अथवा वैयक्तिक विभेदों के समूह विभिन्न संदर्भों को संरचित करते हैं। अतः संदर्भवाद एक प्रकार के अहंमात्रतावाद का पोषक सिद्ध होता है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति का अत्यन्त ही विलक्षण ज्ञानमीमांसीय संदर्भ है, जिसके फलस्वरूप वह दूसरों के विचारों के अवबोध में निष्फल है। उत्तर–आधुनिक विचारकों का उद्घोष है कि प्रबोधन काल की वस्तुनिष्ठता एवं बौद्धिकता रूपी आदर्शों का निधन हो गया है, अर्थात् वर्तमान परिप्रेक्ष्य में वे सभी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अप्रासंगिक हैं। किन्तु समीक्षात्मक चिंतन एवं स्वस्थ वाद–विवाद के लिए कुछ सिद्धान्त अथवा प्रक्रिया नितांत आवश्यक है — उदाहरणार्थ अव्याघात का सिद्धान्त, वैचारिक असहमति के निस्तारण के लिए साक्ष्यों का प्रयोग एवं युक्तियों की पारस्परिकता अथवा अन्योन्यता के सिद्धान्त का अनुमोदन आदि। अधिष्ठानवाद का दावा है कि कोई विश्वास बौद्धिक अथवा युक्तिसंगत तब होता है जब वह या तो ज्ञानमीमांसीय अधिष्ठान का अंश हो अथवा उस अधिष्ठान से अनुमित हो। उत्तर–आधुनिकतावाद की यह मान्यता है कि सभी तंत्र अपने अधिष्ठानों में कुछ अपरीक्षित पूर्वधारणाओं को स्वीकार करते हैं, और इसीलिए अधिष्ठानवाद के स्थान पर संदर्भवादी दृष्टिकोण को स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार की उत्तर–आधुनिक प्रतिक्रिया के संदर्भ में ऐसी अनुक्रिया अपेक्षित है कि अपरीक्षित पूर्वधारणा से यह निष्पन्न नहीं होता कि वह सदैव असत्य अथवा अनुचित है। संदर्भवाद के पक्ष में उत्तर–आधुनिक चिंतक ऐसे तर्क प्रस्तुत करते हैं कि जिन मानकों से हम विश्वासों की बौद्धिकता अथवा यौक्तिकता का मूल्याँकन करते हैं, वे स्वयं में अनिश्चित हैं, क्योंकि ऐतिहासिक परिवर्तन के अधीन हैं। अतः जिज्ञासु के संदर्भ मात्र जगत् के विश्वासों को समाहित नहीं करते, अपितु ज्ञानमीमांसीय मानकों से संबद्ध उन विश्वासों को भी अंतर्निहित करते हैं, जिसके आधार पर विश्वासों का मूल्याँकन किया जाता है। ये मानक विभिन्न काल एवं संस्कृतियों में परिवर्तित होते रहते हैं और इस कारण से वस्तुनिष्ठता एक असंभावना है। यदि हम स्वीकार भी कर लें कि मूल्याँकन अथवा बौद्धिकता के मानक परिवर्तनशील हैं तो भी बौद्धिकता के समर्थक वस्तुनिष्ठ मानकों की संभावना का अनुमोदन करते ही हैं।

ज्ञानमीमांसीय औचित्यीकरण की उपरोक्त विवेचना के आधार पर निष्कर्षरूपेण यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि अधिष्ठानवाद, सामंजस्यवाद एवं संदर्भवाद के अपने गुण एवं दोष हैं। हम निःसंदेह इन सिद्धान्तों का प्रयोग अपने विश्वासों को औचित्य प्रदान करने के लिए करते हैं एवं ऐसा करने में कुछ अनुचित भी नहीं है। यह यथोचित नहीं है कि हम उनके स्वरूप को परस्पर व्यावर्त्तक रूप में ग्रहण करें, अपितु परस्पर पूरकता की अत्यधिक संभावना है।[13] बौद्धिक अधिष्ठान एवं सामंजस्य की खोज संदर्भात्मक परिस्थिति में सफलतापूर्वक निष्पन्न होती है। उत्तर–आधुनिकता का योगदान इसमें निहित है कि वह बुद्धिवादी विचारकों को अपनी पद्धतियों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एवं पूर्वमान्यताओं के पुनर्चिंतन अथवा आत्मविश्लेषण के लिए बाध्य करती है, और इसके अतिरिक्त बुद्धिवादियों से अनुमान, साक्ष्य एवं तर्कणा के स्वरूप के पुनर्परीक्षण की मांग करती है। उत्तर–आधुनिकता हमें आधुनिक बौद्धिक चिंतन के अपने मूल में ही भ्रान्तिमूलक होने के संबन्ध में सचेत करती है। मिल, पियर्स एवं पॉपर आदि की यह मान्यता है कि समस्त दार्शनिक दृष्टियाँ अथवा बौद्धिक निर्धारण निरंतर परीक्षण, समीक्षा एवं परिष्कार की अपेक्षा रखती हैं। परन्तु इसके बावजूद भी बौद्धिकता के संप्रत्यय का परित्याग भयंकर भूल होगी। ऐसी परिस्थिति में उत्तर–आधुनिक संदर्भवादी ज्ञानमीमांसीय परिप्रेक्ष्यों के विश्लेषण एवं मूल्याँकन की भी कोई संभावना शेष नहीं रहेगी। अतः यह स्वयंसिद्ध अथवा सामान्योक्ति है कि चाहे वह विश्वास के औचित्य का प्रश्न हो अथवा शास्त्र की व्याख्या हमारा अभीष्ट हो, हमें अवश्य बौद्धिकता, सामंजस्य एवं संदर्भ के निकषों का प्रयोग अपने ज्ञानमीमांसीय उपागमों में करना चाहिए, अन्यथा निष्पक्ष एवं संतुलित दार्शनिक दृष्टि का विकास ही गतिरोध का शिकार बन जायेगा।

दर्शनशास्त्र विभाग
यूइंग क्रिश्चियन कालेज, इलाहाबाद

सन्दर्भ ग्रन्थ –

1. *शुक्ला, संजय कुमार, दी प्रोजेक्ट ऑफ मॉडर्निटी : रिइक्जामिन्ड, फिलॉस्फिकल रिफलेक्शन्स : एक्सप्लोरिंग क्लासिकल एण्ड रिसेन्ट इशूज़ में संकलित, सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2009, पृ. 259.*
2. *हैबरमास, जुरगेन, दी फिलॉस्फिकल डिसकोर्स ऑफ मॉडर्निटी, टवैल्व लेक्चर्स, एमआईटी प्रेस, कैम्ब्रिज, पृ. 16–17.*
3. *वही, पृ. 314–15.*
4. *सिंह, राघवेन्द्र प्रताप, कॉनशेसनेस इन्डियन एण्ड वेस्टर्न पर्सपेक्टिवज़, ऐटलान्टिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स लिमिटेड, नई दिल्ली, 2008, पृ. 355–56.*
5. *कियरने, रिचर्ड, डाइलोग्स विद कन्टेपोररी कॉन्टिनेन्टल थिंकर्स : दी फिनोमिनोलॉजिकल हेरिटेज, मैनचेस्टर्स यूनिवर्सिटी प्रेस, 1984, पृ. 112–13.*
6. *शर्ग, काल्विन ओ, लिबरल लर्निंग इन ए पोस्टमॉर्डन वर्ल्ड दी की रिपोर्टर, खण्ड 54, अंक 1, ऑटम, 1988, पृ. 1–3.*
7. *कून्ह, थॉमस, दी स्ट्रक्चर ऑफ साइन्टिफिक रिवोल्यूशन, द्वितीय संस्करण, शिकागो : यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो, 1962, पृ. 122.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

8. पोलाक, जॉन एल., नॉलेज एण्ड जस्टिफिकेशन, प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू जर्सी, 1974, पृ. 23–24.
9. पॉपर, कार्ल आर., ओबजेक्टिव नॉलेज : एन इवोल्यूशनरी एप्रोच, ऑक्सफोर्ड, 1972, पृ. 63–66.
10. वही, पृ. 259–61.
11. डेविडसन, डोनाल्ड, ए कोहरेन्स थ्योरी ऑफ ट्रुथ एण्ड नॉलेज, इ. लिपोर (संपादित) ट्रुथ एण्ड इन्टरप्रिटेशन, पर्सपेक्टिव ऑन दी फिलास्फी ऑफ डोनाल्ड डेविडसन, ऑक्सफोर्ड : ब्लेक्वेल, 1986, पृ. 310.
12. किरखन, रिचर्ड एल, थ्योरीज ऑफ ट्रुथ, ब्रैडफोर्ड बुक्स, कैम्ब्रिज ,1997, पृ. 217–18
13. शुक्ला, संजय कुमार, मॉडर्निटी एण्ड पोस्ट मॉडर्निटी डिबेट : रिलेटेड इशूज़ एण्ड चैलेन्जेस, सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2014, पृ. 47.

◆◆◆

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उत्तर-आधुनिकता और नारीवाद

कितने दूर - कितने पास

आलोक टण्डन

मार्क्सवाद के संकटग्रस्त हो जाने के पश्चात, उत्तर–आधुनिकतावाद और नारीवाद, दो महत्त्वपूर्ण विचारधाराओं के रूप में उभर कर सामने आये हैं। एक दूसरे से प्रारम्भिक दूरी के बावजूद, दोनों के बीच सम्बन्धों की पड़ताल करने के औचित्य को नकारा नहीं जा सकता। पश्चिमी आधुनिकता के महा–आख्यान के विरुद्ध संघर्षरत, दोनों ने न केवल दर्शनशास्त्र को कठघरे में खड़ा कर दिया अपितु दर्शनशास्त्र और व्यापक संस्कृति के बीच सम्बन्धों को एक नयी आलोचनात्मक दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। यद्यपि उत्तर– आधुनिकतावादियों और नारीवादियों ने एक ही प्रकार की समस्याओं पर स्वतंत्र रूप से कार्य किया है किन्तु दोनों की प्रस्थान दिशायें भिन्न हैं। उत्तर–आधुनिकतावादियों ने मुख्य रूप से समस्या के दार्शनिक पक्ष पर प्रति–आधारभूतवादी (antifoundational) दृष्टिकोण से केन्द्रित करते हुए सामाजिक आलोचना के स्वरूप के बारे में कुछ निष्कर्ष निकाले हैं। वहीं नारीवादियों के लिये दार्शनिकता का सवाल हमेशा सामाजिक आलोचना के बाद ही आता है। दिशा और प्राथमिकता के इस अंतर ने दोनों को एकसाथ संपूरक मजबूती और कमजोरी प्रदान की है। उत्तर–आधुनिकतावादी आधारभूतवाद (foundationalism) की तो ताकतवर आलोचना करते हैं किन्तु सामाजिक आलोचना में कमजोर साबित होते हैं। वहीं नारीवादियों का सामाजिक आलोचना का पक्ष काफी मजबूत हैं किन्तु वे आधारभूतवाद और सारतत्त्ववाद (essentialism) के शिकार हो जाते हैं। इस तरह दोनों दृष्टिकोण एक दूसरे की महत्त्वपूर्ण आलोचना करने के साथ–साथ एक दूसरे से सीखने की सम्भावनायें भी जताते हैं। उत्तर–आधुनिक दृष्टि से नारीवाद को देखने पर उसमें आधारभूतवाद के तत्त्व और नारीवादी दृष्टि से उत्तर–आधुनिकतावाद को देखने से उसकी राजनैतिक कमजोरी उजागर होती है। ऐसा लगता है कि दोनों के पास कुछ ऐसा है जिसकी मदद से एक–दूसरे की कमियों को दूर किया जा सकता है। दोनों के बीच संवाद से उत्तर–

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आधुनिक नारीवाद के उद्‌भव की सम्भावना भी दीखती है जिसमें दोनों के मजबूत पक्षों का समन्वय और कमजोर पक्षों का निराकरण किया जा सके। उभरते हुये इसी दृष्टिकोण के मूल्याँकन का प्रयत्न प्रस्तुत लेख में करने का प्रयास किया गया है। पहले खंड में उत्तर–आधुनिकतावाद और नारीवाद के बीच समानताओं की पड़ताल की गयी है, दूसरे खंड में दोनों के बीच तनाव को समझने का प्रयास किया है और तीसरे खंड में उत्तर–आधुनिक नारीवाद के मूल्याँकन की कोशिश की गई है।

I

यद्यपि उत्तर–आधुनिकतावाद और नारीवाद के बीच सम्बन्ध की पड़ताल के लिये दोनों के सैद्धान्तिक विकास का सूक्ष्म परिचय दिया जाना वांछनीय है किन्तु स्थान की कमी को देखते ऐसा मैं नहीं करूँगा। फिर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि नारीवाद और उत्तर–आधुनिकतावाद केवल वर्णनात्मक कोटियाँ नहीं हैं। वे संगठनात्मक और मूल्यात्मक कोटियाँ भी हैं जो उन्हीं प्रक्रियाओं को उनके वर्णन के साथ–साथ परिभाषित करने का प्रयास भी करती हैं। वर्तमान में स्थिति ये कोटियाँ न केवल भूतकाल का मूल्याँकन करती हैं अपितु भविष्य के सोंच का निर्धारण करने का प्रयास भी करती हैं। आइये उनके तुलनात्मक अध्ययन की शुरुआत हम उत्तर–आधुनिकतावाद की मुख्य अवधारणाओं से करें जिसकी ओर नारीवादी चिंतक जेन लैक्स (1990) ने इशारा किया है। उनके अनुसार उत्तर–आधुनिकतावाद को तीन अवधारणाओं में समेटा जा सकता है – मनुष्य का अंत, इतिहास का अंत और तत्त्वमीमांसा का अंत। सामान्य रूप से यदि कहा जाय तो उत्तर–आधुनिकतावाद मनुष्य और प्रकृति के बारे में सारभूत मान्यताओं को रद्द करता है। दरअसल, मनुष्य एक सामाजिक, ऐतिहासिक और भाषिक शिल्पकृति है जो लगातार कल्पित अर्थों के संजाल में ग्रथित रहता है। वह किसी लोकोत्तर परमसत्ता से जुड़ा हुआ नहीं है। उत्तर–आधुनिकतावाद इस बात से भी इन्कार करता है कि इतिहास मनुष्य के ऐसे विकास की कहानी है जो अपने में एकता, समरूपता, पूर्णता, पहचान के मूल्यों को समाहित किये हुये है। सार्वभौमिक सिद्धान्तों पर आधारित 'तार्किक स्व' की अवधारणा को भी रद्द करते हुये उत्तर–आधुनिकतावाद इससे भी इन्कार करता है कि विज्ञान और दर्शन ज्ञान के लिए वस्तुनिष्ठ, भरोसेमंद आधार प्रदान कर सकते हैं। वह इस बात को भी तिरस्कृत करता है कि विज्ञान अपने निरपेक्ष तरीकों से सार्वभौमिक रूप से लाभदायी परिणाम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

देता है। भाषा को भी वास्तविकता दर्शाने वाले पारदर्शी माध्यम के रूप में कम, अपितु मानव व्यवहार के नियन्त्रक–साधन के रूप में ज्यादा देखता है। उत्तर–आधुनिकतावाद को इससे भी विरोध है कि सत्य, ज्ञान और सत्ता के बीच संघर्ष को तर्क के आधार पर सुलझाया जा सकता है। इसकी नजर में कोई भी सत्ता–निरपेक्ष सच नहीं है जो स्वतंत्रता की रक्षा कर सके। इस दृष्टि से सभी महा–आख्यान संदिग्ध हैं। इस दृष्टि से मार्क्सवाद, मानववाद, धर्म और नारीवाद सभी सत्ता प्राप्ति के तरीके मात्र हैं।

उत्तर–आधुनिकतावाद के उपरोक्त संक्षिप्त विवेचन से इस बात को आसानी से समझा जा सकता है कि इसके द्वारा पश्चिमी ज्ञानोदय की आलोचना नारीवादियों को क्यों इतनी रास आती है। उपरोक्त वर्णित उत्तर–आधुनिकतावाद की तीनों स्थापनाओं के नारीवादी संस्करण को सेयला बेनहबीब (1995) ने बड़े ही सुन्दर ढ़ंग से रेखांकित किया है। उनके अनुसार नारीवाद, उत्तर–आधुनिकतावाद की तरह ही, शरीर, भावना और सामाजिक स्थिति से परे किसी अमूर्त 'स्व' की अवधारणा को प्रश्नांकित करता है और साथ ही इस बात पर भी बल देता है कि जिन प्रक्रियाओं से लिंग (gender) का संरचनात्मक निर्माण होता है वे तथाकथित निरपेक्ष और सार्वभौमिक तर्क के लिये अतिमहत्त्वपूर्ण संदर्भ भी प्रदान करती है। पश्चिमी दर्शन जो 'स्व' के स्वरूप, संरचना, अनुभव और आंतरिकता में लैंगिक भेद से इन्कार करता है, नारीवाद को स्वीकार नहीं। इस तरह नारीवादियों को उत्तर–आधुनिकतावाद का विभेद, भिन्नता और विविधता पर जोर देना अति आकर्षक लगता है। वे मानव स्वभाव के उन सभी विचारों को निरस्त कर देती हैं जो केवल पुरुष को ध्यान में रखकर बनाये गये हैं। इसी तरह सार्वभौमिक तर्क और न्याय की अवधारणायें भी पुरुष की जरूरतों और पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होने के कारण निरस्त हो जाती हैं। उत्तर–आधुनिकतावाद नारीवादियों को पहले से हाशिये पर स्थित वर्गों, विशेष कर गरीब, श्रमिक, अश्वेत और तीसरी दुनिया के देशों में रहने वाली महिलाओं के बारे में सोंचने का मौका प्रदान करता है जो पहले ज्ञान का विषय नहीं थी। यह तो ऐतिहासिक तथ्य है कि पूर्व में परिवार के मुखिया को ही ध्यान में रखकर बनाई गई नारीवादी सैद्धान्तिकी से भी महिलाओं के विभिन्न वर्गों की उपेक्षा हुयी। अतः हम कह सकते हैं कि उत्तर–आधुनिकतावाद से नारीवादी सिद्धान्त को अधिक समावेशी, भिन्नताओं के प्रति सजग और सांस्कृतिक–ऐतिहासिक संदर्भों के प्रति अधिक सतर्क होने में मदद मिली।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नारीवाद और उत्तर–आधुनिकतावाद, दोनों, तर्कों और दृष्टिकोणों की सार्वभौमिकता को अस्वीकार करते हैं और इस तरह हमारे और दूसरों के विचारों की सामाजिक निर्मित पर ध्यान देने पर जोर देते हैं। इस तरह किन्हीं सार्वभौमिक सैद्धान्तिक आधारों की अनुपस्थिति में सामाजिक सैद्धान्तिकी और आलोचना अधिक व्यावहारिक, संदर्भयुक्त, तदर्थ और स्थानीय हो जाती है।

उत्तर–आधुनिकतावाद द्वारा वस्तुनिष्ठता की आलोचना से नारीवादी भी सहमत दीखते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक प्रेक्षक संसार को अपनी स्थिति से ही देखता है। इस आधार पर नारीवादी सिद्धान्त ज्ञानोदय के मूल्यों को पुरुष प्रधान मूल्य या पुरुषों के पक्ष में परिणाम देने वाले मूल्यों के रूप में आलोचित करते हैं। अतः लैंगिक–भेद ज्ञानोदयीय मूल्यों से होने वाले लाभों को समझने में एक औजार का काम करता है।

नारीवाद और उत्तर–आधुनिकतावाद में समानता का एक और बिन्दु दोनों द्वारा भाशा के महत्व का स्वीकार है। नारीवादी सैद्धान्तिकी में पुरुष–वर्चस्ववादी विमर्श के दलनवादी पक्ष की आलोचना पर बहुत जोर दिया जाता है और विकल्प के रूप में स्त्री–पक्ष को उभारने वाले बहुतेरे विमर्शों को प्रस्तुत किया जाता है जिससे वे शक्ति–संबंध में अपना पक्ष मजबूती से रख सकें।

आज का नारीवाद विज्ञान की आलोचना में भी उत्तर–आधुनिकतावाद के साथ दिखाई देता है। दोनों के लिये विज्ञान एक वर्चस्ववादी वैचारिकी है जो सीमित, ऐतिहासिक सत्य को सार्वभौमिक, प्राकृतिक और पूर्ण बताकर यथार्थ की रहस्यमय भ्रामक समझ पैदा करती है। विज्ञान की कार्यप्रणाली वैज्ञानिक और उसके अध्ययन के विषय के बीच तादात्मय के अस्वीकार पर निर्भर है जिससे वह अध्ययन वस्तु में परिवर्तन करने की सामर्थ्य अर्जित करता है। शक्ति और विशेषाधिकारों में सामाजिक गैरबराबरी को विज्ञान एक पूर्वमान्यता के रूप में न केवल स्वीकार करता है अपितु उसको बनाये रखने का औचित्य भी प्रदान करता है। अतः विज्ञान को बढ़ावा देने का अर्थ पुरुष सत्ता को बढ़ावा देना है क्योंकि विज्ञान के मूल्य वही हैं जो पुरुष वर्चस्ववाद के हैं – नियन्त्रण, सत्ता और वर्चस्व। उत्तर–आधुनिकतावादी, युद्धों में विज्ञान की भूमिका, विशेष रूप से आणविक युद्ध और नाजी उद्देश्यों की प्राप्ति में सहयोग और औचित्यीकरण को कठघरे में खड़ा करते हैं। न केवल विज्ञान वरन् विकास के आदर्श से मोह भंग और आर्थिक–प्रौद्योगिक उन्नति के नाम पर किये जाने वाले अत्याचारों की पहचान और विरोध भी दोनों के बीच समान है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

II

यद्यपि उत्तर–आधुनिकतावाद और नारीवाद की ऐतिहासिक जड़ें समान हैं और उनका उदय ऐसे समय में हुआ है जब दुनिया ने भयानक हिंसा के बावजूद सुन्दर भविष्य बनाने की योग्यता हासिल कर ली है, दोनों के बीच अन्तर भी स्पष्ट देखा जा सकता है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उत्तर–आधुनिकतावाद ने आत्म–स्थापन, अस्मिता, स्वाधीनता और विभिन्न स्तरों (राष्ट्र, कबीला, धर्म, लिंग, नस्ल और जातीयता) पर विशिष्ट मूल्यों को प्रश्रय दिया है जिसकी नारीवादियों (नैन्सी फ्रेजर, 1989) ने विविधता, सीमान्तता, विशेषता और स्पष्टता के कारण प्रशंसा की है लेकिन समस्या तब उत्पन्न होती है जब उत्तर–आधुनिकतावाद नारीवाद की राजनीति से टकराता है। क्या हम बहुलतावाद और विविधता की चर्चा बिना किसी समुदाय द्वारा अपने को न केवल भिन्न अपितु श्रेष्ठ समझे बिना कर सकते हैं? और यदि एक समुदाय अपने को श्रेष्ठ समझता है तो फिर उसका औचित्य क्या है? नारीवाद की राजनीति नारियों की सामाजिक स्थिति में बड़े अन्तर को पहचाने बिना नहीं हो सकती। क्या इस तरह के विभाजन के होते हुए हम किसी प्रकार की सहमति की उम्मीद कर सकते हैं?

जब हम नारीवादी सिद्धान्त और राजनीति के महत्त्वपूर्ण मुद्दों की चर्चा करते हैं तो यह समझते देर नहीं लगती कि क्यों नारीवादी उत्तर–आधुनिकतावाद को शंका की दृष्टि से देखते हैं। कोई भी ऐसा सिद्धान्त जो व्यक्तियों से परे नैतिक आदर्शों पर टिका हो, उत्तर–आधुनिकतावाद की आलोचना का केन्द्र होता है, ऐसे में किसी प्रकार की राजनीति की कल्पना कैसे की जा सकती है? चूँकि स्त्री स्वयं कहानी का पात्र और लेखिका एक साथ है, इसलिये नारीवादी आन्दोलन के लिए कोई प्रस्थान बिन्दु होना आवश्यक है जहाँ से वे अपना आन्दोलन शुरू कर सकें और अपने कार्यों का मूल्याँकन कर सकें। लेकिन यही जिसे बेन हबीब (1991, p. 146) 'मानकीय औचित्य का दायित्व' (responsibility of normative justification) कहती है, उत्तर–आधुनिकतावाद प्रदान नहीं करता। उन्हीं के शब्दों में 'how in fact the very project of female imancipation would even be thinkable without such a regulative principle or agency, autonomy and selfhood' (1995, p.21).

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परम्परागत रूप से नारीवाद पुरुष और स्त्री के बीच विभेद पर केन्द्रित है किन्तु उत्तर–आधुनिकतावाद महिलाओं के मध्य विभेद पर भी ध्यान केन्द्रित करता है। चूँकि उत्तर–आधुनिकतावाद के अनुसार सत्य की कोई एकरूपता नहीं है, स्त्री होने का भी कोई एक स्वरूप नहीं है। प्रत्येक स्त्री की नस्ल, उम्र, शारीरिक और मानसिक योग्यता, यौनिकता आदि से भिन्न–भिन्न रूप में संयोजित होती है। अब यदि महिलायें एक दूसरे से इस कदर भिन्न हैं तो फिर एक सारतत्त्ववादी स्त्रीत्व की कल्पना कैसे सम्भव है जो भिन्नताओं से परे नारीवादी आन्दोलन को एकता प्रदान कर सके जिसे उत्तर–आधुनिकतावाद मान्यता नहीं देता? यदि इसका उत्तर 'नहीं' है तो फिर किसी एक राजनैतिक रणनीति पर सहमति कैसे सम्भव है? इसी तरह यदि महिलाओं में भिन्नता है तो पुरुषों में भी कम नहीं, इसलिए हम किस तरह सारे पुरुष वर्ग पर शोषण–दमन का आरोप लगा सकते हैं?

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उत्तर–आधुनिकता का कठोर संस्करण नारीवादी परियोजना/व्यवहार पर रोक लगा सकता है बशर्ते नारीवादी अनिश्चितता, विभेद, बहुलता, विविधता को गम्भीरता से स्वीकार करें। एक सवाल यह भी उठता है कि यदि वैज्ञानिक सिद्धान्तों की सार्वभौमिकता पर नारीवादी प्रश्नचिन्ह लगाते हैं तो फिर नारीवादी सिद्धान्त की ज्ञानमीमांसीय श्रेष्ठता को कैसे स्वीकारा जा सकता है? आगे, यदि विज्ञान के नाम पर विशेषज्ञों की आधिकारिक आवाज की नारीवादी आलोचना करते हैं तो किस अधिकार से वे आन्तरिक रूप से विभेदपूर्ण नारी वर्ग के प्रतिनिधित्व का दावा कर सकते हैं? यदि नैतिक आदर्श अन्य किसी भी प्रकार के आदर्श की तरह सामाजिक–ऐतिहासिक संदर्भ के अंतर्गत ही समझे जा सकते हैं तो उनसे किस प्रकार एक मुक्तिकामी राजनीति संभव है?

उत्तर–आधुनिकतावाद के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि यदि हम किताबों, मैगजीनों, टेलीविजन, संगीत और विज्ञापनों पर नजर डालें तो स्त्री की जो छवि दिखाई देती है वह नारीवादी सैद्धान्तिक छवि से काफी भिन्न है। ऐसे में क्या हम कह सकते हैं कि उत्तर–आधुनिक नारीवाद उन स्त्रियों के बारे में बात करने का प्रयास करता है जो नारीवादी नहीं हैं? क्या हम उत्तर–आधुनिकतावाद के औजारों का उपयोग नारीवाद के विखण्डन के लिए कर सकते हैं?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हमारे उपरोक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि उत्तर–आधुनिकतावाद और नारीवाद के मूलभूत प्रत्ययों में टकराव है। उत्तर–आधुनिकतावाद का वस्तुनिष्ठता से विरोध है, वह विषयनिष्ठता का विखंडन और आधारभूतवादी चिन्तन का विरोध करता है तथा उन लोगों का समर्थन करता है जो अस्मिता को संस्कृति सापेक्ष मानते हैं। वह यह भी मानता है कि तथ्य, सबूत और प्रमाणों का स्वरूप 'पैराडाइम' के बदलने से बदल जाता है। वह किसी एक दृष्टि से संसार को देखने का विरोधी है। फिर क्या सारे दृष्टिकोण, अपना मिलाकर, एक ही तरह प्रामाणिक हैं? किसी सिद्धान्तवेत्ता के लिये आपस में टकराते हुये विभिन्न दृष्टिकोणों में से किसी एक का चयन किस प्रकार सम्भव है? यदि नारीवादी अपने दृष्टिकोण का चयन लैंगिक दमन और शोषण के आधार पर करते हैं तो उत्तर–आधुनिकतावादियों के चयन का आधार क्या है? क्या वे नारीवादी आधार की आलोचना नहीं करेंगे?

नारीवादी विचारकों के लिए उत्तर–आधुनिकतावाद के प्रति आकर्षण का कारण उसके द्वारा पुरानी विचारधाराओं, जो या तो महिलाओं के प्रति पूर्वाग्रह से ग्रस्त थी या उनकी बात ही नहीं करती थीं, का विखण्डन का प्रयास है। साथ ही वह महिलाओं को एक राजनैतिक कर्त्ता के रूप में इतिहास बनाने की क्षमता भी प्रदान करता है। लेकिन, जैसा हमने ऊपर देखा, दोनों के बीच सुखद मिलन में भी बहुत दिक्कते हैं। इसी मुद्दे को सोन्ड्रा फारगेनिस ने अपने लेख Postmodernism and Feminism (1996, p. 118) बड़े तीखे ढ़ंग से उठाया है। क्या नारीवाद, भिन्नता और बहुमुखी आवाजों के विशेषाधिकार के स्वीकार के साथ 1. नारीवाद को आधारभूतवाद से बचा सकता है। 2. उन आलोचनाओं से बचा सकता है जो ज्ञान की सामाजिकता के स्वीकार के साथ जुड़े हुए हैं। 3. एक ज्यादा बहुलतावादी और सहनशील व्यक्ति की धारणा को बढ़ावा दे सकता है और 4. विशेषाधिकारों के अस्वीकार के साथ एक मुक्तिकामी राजनीति को जन्म दे सकता है। क्या उत्तर–आधुनिकतावादी नारीवाद उपरोक्त प्रश्नों का उत्तर हो सकता है या फिर इनके सैद्धान्तिक मिलन की सम्भावना व्यर्थ है। आगे हम इस पर विचार करेंगे।

III

उत्तर–आधुनिकतावाद और नारीवाद के बीच संगति/असंगति के प्रश्न पर विचार करने से पूर्व हमें यह ध्यान में रखना होगा कि उत्तर–आधुनिकतावाद भी कई तरह के दृष्टिकोण अपने में सिमेटे हुए है। विरोधी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उत्तर–आधुनिकतावाद भी है और प्रतिक्रियावादी भी। (Foster, 1985, p. XII) । कुछ उत्तर–आधुनिक सिद्धान्तों को आधुनिकता के पक्ष में और कुछ को विपक्ष में खड़ा किया जा सकता है। इसी तरह बदलाव की राजनीति या उसकी सम्भावना से ही इन्कार के लिए भी कतिपय उत्तर–आधुनिक सिद्धान्तों का उपयोग किया गया है। अतः हमें उत्तर–आधुनिकतावाद की दो धाराओं में भेद करना चाहिए। पहली चरमपंथी धारा जिसमें ब्रोदिला, ल्योटार्ड, फूको, डिल्यूज और गुआटारी आते हैं, आधुनिकतावाद से पूरी तरह अलगाव पर आधारित हैं। दूसरी धारा के लोगों में जेमसन, लैकलाऊ, मौफे, लैक्स और अन्य नारीवादी प्रमुख हैं, उत्तर आधुनिक अन्तर्दृष्टियों का इस्तेमाल क्रिटिकल सामाजिक सिद्धान्त (Critical Theory) के पुनर्निमाण में करना चाहते हैं जिसमें आधुनिकता और उत्तर–आधुनिकता दोनों के तत्त्व समाये हुये हैं। जैसा कि हम पहले विवेचन कर चुके हैं कि उत्तर–आधुनिकतावाद का चरमपंथी संस्करण नारीवाद और उत्तर–आधुनिकतावाद के फलदायक सम्मिलन का विरोधी है, अब हम इसकी परीक्षा करेंगे कि उत्तर–आधुनिक नारीवादियों (लिन्डा निकोल्सन, 1990, नैन्सी फ्रेजर 1989) के 'क्रिटिकल थ्योरी' और उत्तर–आधुनिकतावाद के उन्नत पक्षों के फलदायक सम्मिलन के प्रयत्नों में कितना दम है।

उत्तर–आधुनिकतावाद और क्रिटिकल थ्योरी के बीच सैद्धान्तिक रूप से रक्षणीय और राजनैतिक रूप से मजबूती प्रदान करने वाले सम्बन्ध को गढ़ने के लिये उत्तर–आधुनिक नारीवादी मध्यम ताकत के उत्तर–आधुनिकतावाद का सहारा लेती हैं। महा–आख्यानों के प्रति उत्तर–आधुनिकतावाद के अविश्वास को नारीवाद की सामाजिक आलोचना की ताकत के साथ मिलाने के लिये वे सामाजिक आलोचना के दर्शन–विरत संस्करण को अपनाती हैं जो लिंग भेद को समानताओं और अनन्त भिन्नताओं में अध्ययन कर सके। चूँकि लिंग– भेद का अपना एक लम्बा इतिहास है और यह आधुनिक समाजों में भी गहरी जड़ें जमाये हुये है, लैंगिक अस्मिताओं के ऐतिहासिक निर्माण की संरचनाओं को समझने और आलोचित करने के उत्तर–आधुनिक प्रयास के लिये समाज की वृहद् संरचनाओं के विवेचन को छोड़ देना उचित नहीं है। न ही वे बड़े राजनैतिक समस्याओं के विवेचन के लिये बड़े सैद्धान्तिक औजारों को छोड़ने के पक्ष में हैं। उदाहरण के लिये, फ्रेजर और निकोल्सन (1990, p.23) नारीवादी सैद्धान्तिक परियोजना के स्तर को इस हद तक कम करने की तो पक्षधर हैं कि लिंग– भेद के कारण,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जो सभी ऐतिहासिक समाजों पर लागू हों, उनकी खोज व्यर्थ है लेकिन राजनैतिक सिद्धान्त के उस मूलभूत पहलू को अपनाये रखने की भी वकालत करती है जिसे वे "the identification and critique of macrostructures of inequality and injustice which cut across the boundaries separating relatively discrete practices and institutions' कहती हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि लिंग–भेद के किसी शाश्वत (और इसलिये अपरिवर्तनीय) कारण की खोज न करने का मतलब 'यहाँ और अभी' इसके कारणों की खोज को निरस्त कर देना नहीं है। इस तरह उत्तर–आधुनिक नारीवादी आलोचना सैद्धान्तिक बनी रहती है लेकिन यह ऐतिहासिक रूप लेती है जिससे यह विभिन्न समाजों के सांस्कृतिक वैशिष्ट्य की रक्षा कर सके। उदाहरण के लिये – अल्पकालिक और सांस्कृतिक रूप से विशिष्ट कोटियाँ जैसे आधुनिक, पुरुष वर्चस्ववादी, एकल परिवार आदि, ऐतिहासिक–प्रकार्यात्मक कोटियों जैसे मातृत्व और पुनरुत्पादन आदि पर वरीयता प्राप्त कर लेती हैं। बाद की इन कोटियों को एकदम छोड़ नहीं दिया जाता अपितु दोनों तरह की कोटियों का प्रयोग एक दूसरे की कमियों को दूर करने में किया जाता है। एक ओर जहाँ स्थानीय आख्यान, बड़े पैमाने पर अर्ध–महा–आख्यान में बदल जाने से बचाते हैं तो दूसरी ओर बड़े संदर्भित विवरण स्थानीय आख्यानों को विभेद के सामान्य विवरण में बदल जाने से रोकते हैं।

उपरोक्त वर्णित उत्तर–आधुनिक नारीवादी सिद्धान्त सार्वभौमिकता के दावे से मुक्त, इतिहास के निर्माणकर्ता के विचार को तिलांजलि देता है। यह स्त्री की समरूपी लैंगिक पहचान को बहुलतावादी, जटिल, निर्माणवादी सामाजिक अस्मिता से प्रतिस्थापित कर देता है। वर्ग, नस्ल, जातीयता, उम्र और यौनिकता के तरह लिंग–भेद भी एक प्रासंगिक प्रत्यय का काम करता है। इसका परिणाम एक व्यावहारिक दोष की संभावनाएँ स्वीकारने वाले, उत्तर–आधुनिक नारीवादी विमर्श से होता है जिसमें जरूरत के अनुसार विभिन्न सैद्धान्तिक कोटियों का उपयोग होता है जो किसी एक स्त्रीवादी विवेचन प्रणाली या ज्ञानमीमांसा पर आधारित नहीं होता। "It would look more like a tapestry composed of threads of many different hues than one woven in single colour' (Nicholson and Fraser, 1990, p.36).

लेकिन, दार्शनिक आधारों को त्यागने से यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न तो अनुत्तरित रह ही जाता है कि किस तरह उत्तर–आधुनिक नारीवाद अपनी आलोचनात्मक, मुक्तिकामी ताकत को बचाये रख सकता है ? उत्तर–

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आधुनिकता के स्वीकार के साथ जब इतिहास में शोषित वर्गों के संघर्ष से सरोकार टूट जाता है तो नारीवाद कैसे अपनी मुक्तिकामी परियोजना बचाये रख सकता है? तर्कपूर्ण सिद्धान्तों के अभाव में हम कैसे अत्याचारी राजनैतिक सत्ताओं के खिलाफ लड़ने की अपील कर सकते हैं? (Hekman, 1990, p.175)। स्थान, समय और विशिष्ट स्वार्थों से परे मूल्यों की किसी अवधारणा के अभाव में हम राजनैतिक संघर्ष को औचित्य कैसे प्रदान कर सकते हैं।

मुक्तिकामी परियोजना को जीवित रखने के लिए यह जरूरी है कि हम कैसे मानवीय कर्त्तृत्व के विचार के मूल्य को स्थापित करें, और उसे उदारवादी व्यक्तिवाद से, जो व्यक्ति की सामाजिकता से इन्कार करता है, से अलग कर देखें। दूसरे शब्दों में, यह चुनौती विषयी (Subject) को इस प्रकार निर्मित करने की है कि आत्म और सामाजिक परिवर्तन के एक एजेन्ट के रूप में व्यक्ति की भूमिका संदिग्ध न रहे। कोई विषयी यह कैसे जानेगा कि कैसे, कब और क्यों कर्म करना है यदि वह एक आत्म न होकर जटिल अन्तःक्रियाओं का बहुविध संगठन है? इन सवालों का युक्तिसंगत उत्तर उन नारीवादी विचारकों ने दिया है जो किसी महा–आख्यान के द्वारा वैधता प्राप्त किये बिना कई प्रकार के वचनबद्ध इतिहास लेखन में रत हैं। स्थानीय इतिहास, स्त्री कर्त्तृत्व और विरोध की खोई हुयी परम्पराओं को पुनर्स्थापित करने के ये सारे प्रयास उत्तर–आधुनिक कहे जा सकते हैं जो नारी स्वातंत्र्य के उद्देश्य से प्रेरित हैं। यहाँ तक कि किसी प्रकार के आधारभूतवादी महा–आख्यान में अपना आधार खोजने से इन्कार भी मुक्ति की कामना से ही प्रेरित है।

इस आलोचना का उत्तर देने के लिए कि उत्तर–आधुनिक नारीवाद के पास राजनैतिक कर्म को औचित्य प्रदान करने का कोई मानदण्ड नहीं है। यद्यपि निकोल्सन और फ्रेजर (1990) ने 'बिना दर्शन के सामाजिक आलोचना का विचार प्रस्तुत किया है। परन्तु यह दृष्टि संस्कृति के विवादास्पद स्वरूप को स्वीकार करती है और सांस्कृतिक मानदण्डों को स्पष्ट करने और पुनर्निर्मित करने पर जोर देती है। लेकिन यह भी मानती है कि यह कार्य स्वयं में ऐतिहासिक–सांस्कृतिक स्थिति में ही अवस्थित है जिससे बचना सम्भव नहीं। दोनों ही कार्यों के लिए किसी ऐसे दर्शन की आवश्यकता नहीं है जो इतिहास के परे सभी विमर्शों की वैधता के लिए मानदण्ड देने का दावा करता हो। अतः अवस्थित आलोचना सामान्य मूल्यों से इन्कार नहीं करती, केवल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उनके स्थितिबद्ध होने पर जोर देती है। एक स्थितिबद्ध, नारीवादी आंदोलन एक तीव्र आलोचक हो सकता है और आत्म–आलोचना में भी सक्रिय हो सकता है। किस प्रकार की उत्तर–आधुनिक नारीवादी राजनीति का इससे उदय होगा, इस पर विचार करने से पूर्व हमें उस आरोप का भी उत्तर देना होगा कि विषयी के प्रति उत्तर–आधुनिक दृष्टि नारीवाद को समर्थन नहीं दे सकती क्योंकि यह विषयी समाज परिवर्तन के लिए आलोचना, विरोध और कर्म करने में सक्षम नहीं है। यह आरोप, ऐसा लगता है, आलोचनात्मक क्षमता को आत्मपरकता की तात्विक संरचना का अंग मानता है। लेकिन यह मानने में भी कोई बुराई नहीं है कि संस्कृति निर्मित आत्म भी आलोचनात्मक आत्म हो सकता है। जरूरत इस बात की है कि आत्म की एक वैकल्पिक संकल्पना विकसित की जाय तो दार्शनिक रूप से उपयुक्त और राजनैतिक रूप से फलदायी हो। विकेन्द्रित आत्म, कर्त्ता के इस नये सिद्धान्त का एक आवश्यक अंग होगा जो उन स्थितियों को इंगित कर सके जिसमें विशयी इतिहास का निर्माण कर सके और उसके द्वारा निर्मित भी हो सके।

वर्तमान समय में नारीवादी राजनीति की रणनीति पर यदि नजर डालें तो उत्तर–आधुनिक नारीवादी दृष्टिकोण की उपयोगिता साफ दिखाई देती है। यह रणनीति अधिकांशतः गठबंधन पर आधारित है न कि किसी सार्वभौमिक स्वार्थ या पहचान पर। स्त्रियों की विभिन्न जरूरतों को देखते हुए यह इस बात पर जोर देती है कि सभी समस्याओं का कोई एक हल सम्भव नहीं है। यह सही है कि कुछ स्त्रियों की समान जरूरतें और स्वार्थ हैं लेकिन यह सार्वभौमिक नहीं। समानताओं के साथ–साथ भिन्नतायें भी हैं और उनमें टकराव भी। हम इसे नारीवादी राजनीति का बहुलतावाद कह सकते हैं। गठबंधन की इस राजनीति के लिए भिन्नताओं पर जोर देने वाला और समानताओं की अवहेलना करने वाला चरमपंथी उत्तर–आधुनिकतावाद उपयोगी नहीं हो सकता। इससे तो छोटे–छोटे लाभ के लिये इकरहे मुद्दों की राजनीति सम्भव है, किसी बड़े पैमाने पर विभिन्न समुदायों के एकजुट होकर बड़े बदलाव की राजनीति सम्भव नहीं है। ऐसे में उत्तर–आधुनिक नारीवादी दृष्टिकोण से की गई जाँच से एक ज्यादा समुन्नत, जटिल और बहुआयामी स्त्रीवादी एकता सम्भव है।

उत्तर–आधुनिक नारीवाद के उपरोक्त विवेचन का हम यह कह कर अंत कर सकते हैं कि दोनों दृष्टिकोणों के टकराव के स्थान पर हम उनके दावों को इस तरह संशोधित कर सकते हैं कि वे आपस में सुसंगत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हो सकें। इसके लिये जहाँ एक ओर चरमपंथी उत्तर–आधुनिकतावाद से दूरी बनानी होगी, वहीं नारीवादियों को भी आधुनिक कोटियों जैसे मानवीय अधिकार, समानता और जनतान्त्रिक स्वतंत्रताओं का महत्त्व समझना होगा जिनका उपयोग उनके द्वारा लैंगिक अन्याय के खिलाफ लड़ने के लिए किया जाता है। दोनों को ही मानना होगा कि मुक्ति का विमर्श एक आधुनिक विमर्श है।

अंत में, यह पूछा जा सकता है कि क्या हमारे पास पूरी तरह से विकसित उत्तर–आधुनिक नारीवाद की सैद्धान्तिकी है? ऊपर जिन चुनौतियों की चर्चा हम कर आये हैं उनके मद्देनजर हम कह सकते हैं कि 'नहीं' लेकिन एक शुरुआत हो गई है। उत्तर–आधुनिक नारीवादियों के सामने पहली चुनौती है कि आलोचना की क्षमता और संस्कृति निर्मितता के साथ आत्मपरकता को कैसे समझा जाये। दूसरी चुनौती है कि कैसे आलोचना को एक साथ स्थितिबद्ध और आत्म चिन्तन से परिवर्तनीय समझा जाय। तीसरी चुनौती है कि इतिहास के साथ कैसे आधारभूत विरोधी लेकिन राजनैतिक रूप से प्रतिबद्ध सम्बन्ध बनाया जाय। आखिरी चुनौती है कि समूह अस्मिताओं को कैसे विमर्श निर्मित और सामूहिक कर्म के योग्य समझा जाय जिनकी विखण्डन और पुनर्निमाण की बराबर जरूरत है। संक्षेप में, इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये उत्तर–आधुनिक नारीवादियों को नये पैराडाइम गढ़ने होंगे। इसके लिये क्रिटिकल थ्योरी की कुछ अन्तदृष्टियाँ भी काम में आ सकती हैं।

53, अशरफ टोला
हरदोई, उत्तरप्रदेश

सन्दर्भ ग्रन्थ –

– *Benhabib Syela, 'Faminism and Postmodernism : An Uneasy Alliance' p. 17-34 in Feminist Contentions, A Philosophical Exchange, intro. By Linda Nicholson. 1995, Routledge, New York.*
– *Farganis, Sondra, 'Postmodemism and Feminism' pp. 101-126, in Postmodemism and Social Theory, Ed. By David R. Dickens and Andrea Fontana UCL Press*
– *Flax, Jane, Thinking Fragments : Psychoanalysis, Feminism and Postmodemism in Contemporary West, Berkley : University of Califomia Press, 1990, 32 ff.*
– *Foster, Hal (Ed), Postmodem Culture, London, Pluto Press, 1985, p. XII*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

- Fraser, Nancy and Linda J. Nicholson, 'Social Criticism without Philosophy : An Encounter between Feminism and Postmodernism', pp. 19-38 in Feminism / Postmodernism, Ed. By Linda J. Nicholson, New York, Routledge, 1990.
- Harding, Sandra, The Science Question in Feminism, Ithaca, New York, Cornell University Press, 1986.
- Hekman, Susan, Gender and Knowledge : Elements of a Postmodern Feminism, Boston, Northeastern Uni. Press, 1990.
- Lovibond, Sabina, 'Feminism and Postmodernism', in New Left Review No. 178, (Nov. - Dec. 1989) pp. 5-28.
- Nicholson, Linda J. Introduction in Feminism / Postmodernism Ed. By Linda J. Nicholson, NY, Routledge, 1990, Introduction (p. 1-16) in Feminist Contentions : A Philosophical Exchange New York, Routledge, 1995.
- Steven Best and Douglas Kellner, Postmodern Theory : Critical Interrogations, Macmillan.

◆◆◆

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आधुनिकता बनाम उत्तर-आधुनिकता संवाद में हैबरमास का स्थान

अजय वर्मा

उत्तर आधुनिकता तथा उसका ज्ञानमीमांसीय प्रारूप बहुत समय से विवादों का विषय बना रहा है किन्तु इसका एक बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण परिणाम यह रहा कि दर्शनशास्त्र में इस चेतना का प्रसार हुआ कि हमारी सभी दार्शनिक मान्यताएँ मूल रूप से हमारी भाषिकता अथवा भाषीयता (linguisticality) में मूलित हैं। यदि हम अपनी भाषिक प्रवृत्तियों की सघन परीक्षा करें तो हम पाते हैं कि हमारे भाषिक कृत्यों तथा परम्पराओं में ही हमारे समस्त संज्ञानात्मक हित (Cognitive Interests) एक प्रकार से गूंथे रहते हैं। ये संज्ञानात्मक हित काण्ट के दर्शन की तरह कोई प्रागनुभविक पूर्वमान्यताएँ नहीं हैं, किन्तु हमारी ऐसी संज्ञानात्मक प्रवृत्तियाँ हैं जिनसे हम पहले से ही एक सामंजस्य में जुड़े रहते हैं। हैबरमास के अनुसार हमारी भाषीयता (linguisticality) में हमारे सामूहिक हित छिपे रहते हैं जो एक ओर उसी भाषा से प्रस्फुटित होते हैं तथा दूसरी ओर उसी भाषा पर प्रभाव भी बनाए रखते हैं । साथ ही साथ हमारी भाषा को नित नया आकार भी देते हैं। इस नये विमर्श से आधुनिकतावादियों के लिए एक नया विचार अपरिहार्य रूप से चुनौती के रूप में सामने आता है कि हमारी भाषीयता तथा हमारी सामाजिकता आपस में अपरिहार्य रूप से जुड़ी हुई हैं। इसके परिणामस्वरूप न तो हम भाषा से विच्छिन्न किसी विमर्श की कल्पना कर सकते हैं और न ही सामाजिकता से इतर। ऐसे में उत्तर–आधुनिक दार्शनिक जिनमें गादामर तथा हाइडेग्गर शामिल हैं, 17वीं शताब्दी में पुर्नजागरण से उपजी वैज्ञानिक प्रत्यक्षवादी (positivist) सोच को संशय भरी दृष्टि से देखने लगते हैं। किन्तु ऐसे भी बहुत से दर्शनिक हैं जो यह मानते हैं कि आधुनिकता अभी भी एक अधूरा प्रकल्प है। हैबरमास उत्तर–आधुनिक दार्शनिकों की आलोचनाओं को स्वीकारते हुए भी यह मानते हैं कि वे आलोचनाएँ आधुनिकता से जुड़े विचारों को पूर्णतया असिद्ध नहीं कर देतीं। हैबरमास उत्तर–आधुनिक दार्शनिकों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

द्वारा की गई तत्त्वमीमांसा की इस आलोचना से सहमत हैं कि वह इस संसार के जीवन तथा उससे जुड़ी अस्तित्ववादी समस्याओं से इतर एक स्वप्निल अथवा काल्पनिक (imaginative) विचार प्रणाली है। परंतु नीत्शे की तरह वे इसे नकारवाद (nihilism) की स्थापना के रूप में नहीं देखते। सभी उत्तर–आधुनिक नकारवादी विचार, जैसे की नीत्शे का Will to Truth अपने खुद के आधार वाक्यों पर धाराशायी हो जाते हैं क्योंकि वे स्वयं भी परिप्रेक्ष्यमूलक सत्य के दावों (perpectival truth claims) के दायरे में आते हैं। हैबरमास वहीं इससे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि चूँकि सभी प्रत्ययवादी सार्वभौमिक सत्य के दावे सापेक्षतावाद के रूप में ध्वस्त हो जाते हैं, उसी कारण से अन्तर–वैयक्तिक (intersubjective) सार्वभौमिक सत्य की संभावना के लिए भूमि तैयार होती है। उत्तर–आधुनिकता यह विचार सम्मुख रखती है कि ज्ञान के दावों में अवस्थित व्यक्तिवादी हित (subjective interests) वस्तुनिष्ठ ज्ञान की संभावना को समाप्त कर देते हैं, वहीं दूसरी ओर हैबरमास के लिए यही व्यक्तिवादी हित एक अन्तर–वैयक्तिक संवाद के लिए पृष्ठभूमि तैयार करते हैं जहाँ से एक वास्तविक विमर्शात्मक चिन्तन (reflective knowledge) पर आधारित मतैक्य रूपी सार्वभौमिक ज्ञान के उदय की संभावना उत्पन्न होती है जो सार्वभौमिक हितों तथा जीवन परिस्थितियों पर आधारित ज्ञान होगा। उत्तर–आधुनिक दार्शनिकों का मत इस प्रकार की संशयात्मक ज्ञानमीमांसा पर टिका है जिसके अनुसार सत्यता हमारे ज्ञान के दावों को वास्तविकता के अनुरूप दर्शाने पर निर्भर करती है तथा वस्तुनिष्ठ बाह्य वास्तविकता को जानने का हमारे पास कोई आधार उपलब्ध नहीं है। हैबरमास के अनुसार इससे केवल यह सिद्ध होता है कि सत्यता, संवादिता तथा तार्किकता के अतिरिक्त कोई बाह्य वास्तिकता नहीं है। इसलिए हैबरमास के लिए यह चिन्ता का विषय नहीं है। इसके विपरीत हैबरमास के अनुसार असत्यता चाहे वह राजनैतिक हो अथवा व्यक्तिगत, अनिवार्यतः किसी शोषण का परिणाम है। आधुनिकता बनाम उत्तर–आधुनिकता विवाद में हैबरमास का सबसे बड़ा तथा विशिष्ट योगदान यह है कि वे इस ओर इंगित करते हैं कि तार्किकता के परिसम्पन्न आकार तथा सामूहिक स्वतन्त्रतादायी सत्यता की अन्तर्दृष्टि हमारी भाषिकता में पहले से ही अन्दरुनी तौर पर मौजूद रहती है जो किसी बाह्य वास्तविकता पर विमर्श का परिणाम नहीं हैं। वह परस्पर संवाद द्वारा भाषा की परीक्षा से फलित हमारी सामाजिकता के अन्तरतम में अवस्थित हमारी सामूहिक ऐतिहासिक आनुभविक वास्तविकता के बाह्यकरण का परिणाम है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैबरमास उत्तर–आधुनिक दर्शन के इस विचार का समर्थन करते हैं कि विज्ञान की वस्तुनिष्ठ निरीक्षण पर आधारित सत्य–निर्धारण की प्रणाली एक प्रकार के लाघवीकरण, अवमूल्यन और अपचयवाद (reductionism) पर आधारित है। इसके अतिरिक्त वे इस मत की भी आलोचना करते हैं कि सामाजिक विज्ञान के संदर्भ में निष्कर्ष प्राप्त करने के लिए भी यही प्रणाली अपनायी जानी चाहिए। हैबरमास के अनुसार वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग सामाजिक विज्ञान के लिए तभी संभव हो सकता है जब वैज्ञानिक प्रणाली की भाषा तथा संदर्भ का हमारी सामाजिकता तथा ऐतिहासिकता के संदर्भों में अनुवाद किया जा सके। हैबरमास का मानना है कि विज्ञान की पूर्वमान्यताएँ तथा प्रतिमान विज्ञान के अविवादित रूप में नहीं देखे जाने चाहिए। एक प्रत्यक्षवाद (positivism) से प्रेरित अनुशासन के रूप में विज्ञान एक स्व–सीमा में बंधी प्रणाली के रूप में सामने आता है। जबकि समालोचनात्मक विमर्श (critical theory) क्रमशः स्वयं को विस्तृत करता चलता है। इस पृष्ठभूमि में हैबरमास एक मूलभूत प्रश्न उठाते हैं– क्या तार्किकता को सामाजिक तथा राजनैतिक स्वतंत्रता के घटक के रूप में देखा जा सकता है? हैबरमास इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में देते हैं।

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यातव्य है कि यद्यपि हैबरमास एक ओर देकार्त के उपरान्त अनुभववाद के विपरीत एक कठोर पूर्वाग्रह का विरोध करते हैं, वहीं दूसरी ओर बुद्धिवाद तथा तार्किकता पर आधारित पुनर्जागरण की इस मान्यता का वे पूरजोर समर्थन करते हैं कि मानवता तर्कबुद्धि के आधार पर उत्तर खोज लेने में पूर्णतः सक्षम है। किन्तु हैबरमास साथ–ही–साथ यह भी संदेश देते प्रतीत होते हैं कि मानवता अपनी इस क्षमता को उसकी पूर्णता तक पहुँचाने में पूर्ण रुप से सफल नहीं हो पायी है। हैबरमास के अनुसार पुनर्जागरण (enlightenment) समालोचनात्मक विमर्श द्वारा तार्किकता पर आधारित परस्पर सामाजिक संवाद के परिणाम के रूप में राजनैतिक स्वतंत्रता का एक नया आदर्श प्रदान करता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि हैबरमास तार्किकता पर आधारित संवाद से उत्पन्न सर्वसम्मति (consensus) को एक अपरिवर्तनीय आदर्श नहीं मानते। वे इस प्रक्रिया को अर्थनिर्धारक विज्ञान (hermeneutics) की संभावना से युक्त सामाजिक गवेषणा मानते हैं जो प्रतिभागियों की सर्वसम्मति में निहित मान्यताओं तथा मानदन्ड को संशोधित करने की संभावना को सदैव खुला रखती है। उनके अनुसार यदि तार्किकता पर आधारित संवाद द्वारा किन्हीं मानदण्डों पर सर्वसम्मति की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संभावना को हम मान्यता देते हैं तो भविष्य में परिस्थिति अनुसार और अधिक वृहद् सर्वसम्मति की संभावना को भी हमें मानना होगा। इस प्रकार हैबरमास यह मानते हैं कि और अधिक सटीक तथा और खुले संवाद की अपेक्षा रखना तार्किक समालोचना के विमर्श का अपरिहार्य हिस्सा है।

प्राकृतिक विज्ञान तथा सामाजिक विज्ञान की पद्वति में एक और अंतर स्पष्ट करते हुए हैबरमास लिखते हैं : "अनुभववादी–विश्लेषणवादी विज्ञान वास्तविकता को उपक्रम–साधन–कृत्य (instrumental action) की व्यवहारवादी प्रणाली में सीमित कर अनावरित करता है .... इस प्रकार की वास्तविकता की समझ तकनीकी नियंत्रण पर आधारित होती है।"[1] वहीं दूसरी ओर हैबरमास के अनुसार सामाजिक विज्ञान के अध्ययन की प्रणाली भाषायी लेन–देन के अन्तस् में निहित हमारी ऐतिहासिकता, परम्पराएँ तथा उनमें गुँथे हमारे सामूहिक हितों द्वारा संचालित तथा निर्देशित होती है। इस विषय में वे लिखते हैं : "जहाँ एक ओर अनुभववादी–विश्लेषणवादी प्रणाली वास्तविकता/सत्य का नियंत्रण के परिपेक्ष्य से अध्ययन करती है, वहीं दूसरी ओर हर्मेन्यूटिक प्रणाली परस्पर समझ की अन्तरवैयक्तिकता (intersubjectivity) को बनाये रखने पर आधारित होती है।"[2] इस प्रकार हैबरमास के अनुसार प्राकृतिक विज्ञान तथा सामाजिक विज्ञान दो अलग–अलग उद्देश्यों को लेकर आगे बढ़ते हैं। क्योंकि समाज अपने सामाजिक–सांस्कृतिक लेन–देन तथा उस लेन–देन के माध्यमों से अपने आन्तरिक आकार का वास्तविक ताना–बाना तैयार करता है। इसलिए सामाजिक विज्ञान के लिए इन सामाजिक व्यापारों का अध्ययन और अधिक आवश्यक हो जाता है और उसका प्रमुख प्रकार भाषायी व्यापार है। हैबरमास के अनुसार भाषा का प्रमुख कार्य सवांद में संलग्न प्रतिभागियों के बीच अन्तर–वैयक्तिक सहमति की सभांवना का उदय करना है । तदानुसार वे भाषा को मुख्य रूप से वस्त्वर्थ अथवा आदेशार्थ का हेतु नहीं मानते वरन् उसे अन्तर्वैयाक्तिक सहमति का हेतु मानते हैं । इस विषय में वे कहतें हैं कि यदि हमें यह ज्ञान न हो कि भाषिक अभिव्यक्ति का प्रयोग कर किस प्रकार अन्य प्रतिभागी से किसी सम्मति तक पहुँचा जा सके तो सही मायनों में हम उस अभिव्यक्ति का अर्थ नहीं समझ पाएंगे।[3]

इस प्रकार सामाजिक विज्ञान का उद्देश्य सामाजिक स्थिति पर नियंत्रण पाना नहीं होना चाहिए वरन् उसका उद्देश्य समाज में अन्तर–वैयक्तिक संवाद के परिस्थापित माध्यमों को किसी भी प्रकार के बाह्य नियंत्रण से मुक्त

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रखना होना चाहिए। केवल इस प्रकार ही एक वास्तविक संवाद से उत्पन्न सर्वसम्मति (consensus) में विकृति उत्पन्न करने वाले दबावों को रोका जा सकेगा तथा वहीं दूसरी ओर इन संवादों में जन–गण की अधिकाधिक प्रतिभागिता भी संभव हो पाएगी।

इसके अतिरिक्त हमारे जीवन का एक और प्रमुख उद्देश्य होता है — स्वयं की गवेषणा। हैबरमास के अनुसार यह उद्देश्य हमारी स्वतंत्रता से जुड़े उद्देश्यों से आकार पाता है तथा उसको अवरूद्ध करने वाली ताकतों को समझने में हमारी सहायता करता है। स्व–चिन्तन और आत्म–गवेषणा से हमें अपने स्वत्व की उत्पत्ति तथा विकास की एक समझ पैदा करने की क्षमता मिलती है। इसके साथ ही स्वत्व की उत्पत्ति के समानान्तर अन्तर–वैयक्तिकता (intersubjectivity) की भी हममें एक समझ उत्पन्न होती है। इसी पर मानवीय सर्वसम्मति पर आधारित समाज–निर्माण की बुनियाद टिकी होती है। इस विचार से हैबरमास यह निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं कि स्वत्व की उत्पत्ति को समझना तथा सामाजिक स्वायत्तता तथा प्रतिभागिता को समझना एक प्रकार से सामानान्तर प्रक्रियाएँ हैं। उनके अनुसार "स्वत्व तथा साभिप्रायता, जीवन–आकार तथा भाषा–प्रणालियों से पूर्व/निरपेक्ष नहीं हैं, वरन् उन्हीं से उपजे उन्हीं के घटक हैं।"[4] हैबरमास के अनुसार चूँकि हम सामाजिकता से विकसित हुए प्राणी हैं, अतः हम पर उन सामाजिक प्रक्रियाओं को उन्नत करने की जिम्मेदारी है जिन्होंने अतीत में हमें आकार दिया है। इस प्रक्रिया की सही समझ के द्वारा एक प्रकार से हम अपनी सामाजिकता तथा अन्तर–वैयक्तिकता से होते हुए स्वयं तक वापिस आने का सफर तय करते हैं। किन्तु स्व–चिंतन पर आधारित यह स्व–संवाद भी उसी प्रकार बाह्य दबावों से मुक्त और उसी प्रकार की तार्किकता पर आधारित होनी चाहिए जैसा कि अन्तर–वैयक्तिक संवाद में वाँछनीय है। हैबरमास मानते हैं कि विमर्शात्मक (discursive) तार्किकता पर आधारित संवाद में सार्वभौमिक सम्मति को निर्मित करने की क्षमता निहित होती है; चाहें वह वैयक्तिक हो या अन्तर–वैयक्तिक। किन्तु इसकी शर्त यह है कि यह संवाद अप्रतिरोधी (non-coercive) तथा विकृतिमुक्त परिस्थितियों में हो रहा हो। इन परिस्थितियों को हैबरमास आदर्श संवाद–परिस्थिति (ideal speech situation) की संज्ञा देते हैं। इन विचारों पर आधारित सत्य की परिभाषा हैबरमास इस प्रकार देते हैं :–

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

"सत्य है ..... दबाव रहित सार्वभौमिक मान्यता (unforced universal recognition) ..... जो कि आदर्श संवाद परिस्थितियों में से उदित हुई हो ..... आर्थात् एक ऐसा जीवन–आकार (form of life) जो दबाव रहित सार्वभौमिक सहमति को संभव बनाता है।"[5] हैबरमास से पूर्व गादामर भी ऐसा ही विचार प्रकट करते हैं कि भाषा ही हमें एक क्षितिज प्रदान करती है।[6] हैबरमास इससे भी आगे बढ़ कर यह विचार प्रस्तुत करते हैं कि हमारे भाषायी क्षितिज ही हमें संवाद द्वारा अन्यों के भाषायी क्षितिज तक पहुँचने का मार्ग प्रदान करते हैं। इसका अर्थ यह भी है कि हम सभी भाषा में स्थित और भाषा से ही आकार पाने वाले अस्तित्ववान व्यक्ति हैं तथा हम अपने किसी भी भाषायी कृत्य की गर्त में भाषायी आधार पर स्थापित सार्वभौमिकता का उद्देश्य ले कर ही किसी संवाद में प्रतिभागी बनते हैं। इस प्रकार इस संवादिता में ही कहीं हमारी अस्मिता तथा स्वतंत्रता दोनों के बीज छिपे होते हैं जिन्हें हम परस्पर संवाद द्वारा निरन्तर सींचने का प्रयास करते हैं। यहाँ जिस स्वतंत्रता की अवधारणाओं की ओर हैबरमास हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं उसका महत्त्व इस बात में भी है कि यह अवधारणा हमें इस विचार से मुक्त करती है कि हमारे ज्ञान का एकमात्र प्रामाणिक स्रोत इतिहास में प्रदत्त हमारा स्थान अथवा कोई धार्मिक ग्रंथ है। हैबरमास जहाँ एक ओर अर्थनिर्धारण पर आधारित समझ (hermeneutical understanding) के समर्थक हैं वहीं दूसरी ओर वे किसी भी सिद्धान्तवादी (ideological) विचारधारा — चाहे वह धर्म से जुड़ी हो, चाहे इतिहास की संकीर्ण समझ पर आधारित हो — को आदर्श परिसंवाद परिस्थिति के परिपेक्ष्य में संशय की दृष्टि से देखते हैं। वे सिद्धान्तवाद (ideology) से प्रभावित विचारधाराओं से इतर मानवता के लिए सार्वभौमिक सिद्धान्त या संदेश नहीं देना चाहते वरन् वे केवल इस संभावना की ओर संकेत मात्र करना चाहते हैं कि हमारी सृजनशीलता की संभावनाओं (creative potential) को सतह पर लाने के लिए परस्पर संवाद तथा आत्मावलोकन द्वारा हम सभी सिद्धान्तवादी प्रतिरोधों को संवाद–परिस्थितियों से दूर रख सकते हैं। उनके अनुसार इसी प्रकार विवेकशील मानव समाज का विकास तथा प्रसार संभव है जिससे एक वास्तविक पुर्नजागरण संभव हो पायेगा।

हैबरमास द्वारा उत्तर–आधुनिकता की समालोचना

यदि हम उत्तर–आधुनिकता के समर्थक दार्शनिकों के दृष्टिकोण से देखें तो सार्वभौमिक ज्ञान हमारी पहुँच से बहुत दूर दिखाई पड़ता है। हम स्वयं की दृष्टि में हास्यापद प्रतीत होने लगते हैं कि हमने ज्ञान तथा सत्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से जुड़े प्रश्नों को गंभीरता से नहीं लिया। उत्तर–आधुनिक दार्शनिक यह प्रतिस्थापित करते हैं कि ऐसा कोई अनुभव संभव नहीं जो सीधे हमें वास्तविकता में प्रवेश करा सके। प्रत्येक अनुभव अथवा ज्ञान पूर्व सम्प्रेषणों की उपज होती है। इस प्रकार अनुभव, प्रेक्षण तथा वैज्ञानिक प्रयोग हमें ऐसी खिड़की/गवाक्ष प्रदान नहीं कर सकते जो हमें सीधे–सीधे वास्तविकता का दर्शन करा सकें। इन दार्शनिकों के अनुसार हम यह भी पूर्ण रूप से नहीं जान सकते कि हम क्या/कौन हैं? उनके अनुसार हमारी अस्मिता/स्वत्व परिस्थितिजन्य हैं तथा हम परिस्थितियों पर निर्भर तथा उनसे उपजे प्राणी हैं। वही परिस्थितीयाँ जिन्होंने हमारा निर्माण किया है हमारे अस्तित्व के अपरिहार्य हिस्से हैं। उनसे परे जाकर स्वयं की वास्तविकता अथवा सत्य को जानना असंभव है। हम चाहे कितना भी दूर चले जाएँ अपने अस्तित्व से दूर नहीं जा सकते। इस प्रंकार उत्तर–आधुनिक दर्शन के अनुसार हम एक अज्ञेय संसार में स्वयं से अनभिज्ञ अपना जीवन–यापन करने को बाध्य हैं।

तथापि ऐसा क्यों है कि उत्तर–आधुनिकता के उदय के बाद भी सार्वभौमिक ज्ञान, सत्य तथा वास्तविकता से जुड़े प्रश्नों के प्रति हमारी गंभीरता कम नहीं हुई है। क्यों हम इन प्रश्नों को जीवंत रखे हुए हैं ? जबकि उत्तर–आधुनिकता के अनुसार इन प्रश्नों का कोई सुनहरा भविष्य नहीं है। हैबरमास के अनुसार इसका उत्तर भी शायद हमारी भाषीयता में ही छिपा है जिसके द्वारा हम स्वयं से बाहर निकल पाते हैं तथा एक बाह्य इकाई में बंधते हैं। अब जब उत्तर आधुनिक दार्शनिकों ने सत्य को विज्ञान की पहुँच से भी परे घोषित कर दिया, क्या अब भी हमें किसी सार्वभौमिक सत्य की अवधारणाा से जुड़े रहना चाहिए ? क्या भाषा किसी तत्त्वमीमांसीय सत्य की अवधारणा को सदैव अपने गर्भ में संजोये रहती है– चाहे वह कितनी भी सरल क्यों न हो? हैबरमास इन प्रश्नों के प्रकाश में भाषा से जुड़ी हमारी समझ की सूक्ष्म परीक्षा करते हैं।

हैबरमास, का अर्थनिर्धारणवादियों से मतभेद

अर्थनिर्धारणवादी दार्शनिकों के अनुसार हम सभी अपने भाषायी संसार को अपनी चेतना की ऐतिहासिकता में समेटे हुए हैं। उनके अनुसार भाषायी अर्थ स्व अथवा वस्तुनिष्ठता की सीमाओं में आबद्ध नहीं हैं। शब्द का अर्थनिर्धारण स्व तथा वस्तुतत्त्व की सीमाएँ जहाँ मिलती है वहाँ उदित होता है। शब्द स्वयं में केवल ध्वनि से अधिक कुछ नहीं हैं। शब्द केवल हमारी ऐतिहासिक चेतना की प्रभावी पृष्ठभूमि में हीं किन्हीं अर्थों को प्राप्त होते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किन्तु हमारी ऐतिहासिकता हमारी वैयक्तिकता की सीमाओं में बंधी हुई है। उनमें सामूहिक सार्वभौमिकता के अवयव हमें प्रायः परोक्ष रूप से उपलब्ध नहीं होते। किन्तु इसके बावजूद हम अपनी वैयक्तिकता अथवा स्व की सीमाओं का निरंतर अतिक्रमण भाषा द्वारा ही करते रहते हैं। अपनी–अपनी ऐतिहासिकता तथा वैयक्तिकता में आबद्ध हम अपने विभिन्न क्रियाकलापों के गोलार्धों में आबद्ध हम एक दूसरे के परिप्रेक्ष्य की समझ रखते प्रतीत होते हैं। अपने वार्तालापों में हम इसी मान्यता के साथ अग्रसर होते हैं कि मेज के दूसरे सिरे पर बैठा व्यक्ति हमारे परिप्रेक्ष्य से सरोकार रखता है तथा हमें समझ रहा है। हम अपने वार्तालापों में अपने विचारों को वार्तालाप में सहभागी व्यक्ति के परिप्रेक्ष्य के अनुसार अपने विचारों को उसकी ऐतिहासिकता से साम्यता रखता हुआ जामा पहनाने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार हम वार्तालाप में स्वयं ही अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने का प्रयास करते हैं। इसके बिना वार्तालाप की संभावना ही शेष नहीं रह जाएगी।

इस प्रकार हैबरमास जहाँ एक ओर रसेल तथा पूर्ववर्ति–विटगैन्सटाइन से इस विषय पर साम्यता रखते हैं कि भाषा से उपजे मिथ्याबोध को उसमें निहित तार्किक विश्लेषण से दूर किया जा सकता है। वहीं वे अर्थ–निर्धारणवादियों से भी इस विचार पर सहमति व्यक्त करते हैं कि भाषायी समझ अपरिहार्य रूप से सम्प्रेषण के विषय हैं। इन दोनों मतों के बीच मध्यम मार्ग खोजते हुएं वे यह विचार प्रस्तुत करते हैं कि भाषा में मिथ्याबोध से स्वतंत्रता अथवा निराकरण भाषा को सम्प्रेषण से अलग कर उसके अन्तस् में स्थित वाक्य विन्यास (syntax) को उजागर करके संभव नहीं होता। उनके अनुसार भाषा संवाद की विषयवस्तु है तथा उसमें सम्भावित मिथ्याबोध को दूर करने का मार्ग भी संवादशीलता से ही हो कर निकलेगा। भाषा की सीमाएँ इसी संवाद को एक संपूर्णता तक पहुँचाने से ही अतिक्रमित हो सकती है। इसके लिए हमें किसी परास्तरीय विमर्श (meta-level discourse) की आवश्यकता नहीं है। भाषा से संबंधित हमारे सभी राजनैतिक, नीतिशास्त्रीय तथा सम्प्रेषण से जुड़े प्रश्न केवल भाषा की संवादिता के आयामों को पूर्णता से समझने पर ही किसी हल अथवा निष्कर्ष तक पहुँच सकते हैं।

दर्शनशास्त्र केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सन्दर्भ ग्रन्थ –

1. Habermas, J. 1968. Knowledge and Human Interests. Trans. Jeremy J. Shapiro. Boston: Beacon Press.p.195
2. ibid, p. 176.
3. Habermas, J., On the Pragmatics of Communication, ed. Maeve Cooke, Polity Press, Cambridge 1998. p. 228
4. Habermas, J., The Philosophical Discourse of Modernity (trans. Frederick G. Lawrence), p.ix, MIT Press, London, 1987. p.ix.
5. Habermas, J., Knowledge and Human Interests. Trans. Jeremy J. Shapiro. Boston: Beacon Press, 1968p. 207
6. Gadamer, Hans-Gorg.Truth and Method. Trans. Anthony Kerrigan. Ed. John Cumming and Garret Barden. London: Shed and Ward Ltd, 1975.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सत्य के प्रयोग : उन्मीलन से उन्मूलन तक

गाँधी एवं फूको का विमर्श-संदर्भ

सुधीर कुमार

उपक्रम

प्रस्तुत आलेख में गाँधी जी एवं फूको के विमर्श में "सत्य" के कुछ प्रमुख प्रयोगों/अवधारणाओं की समीक्षा का प्रयत्न किया गया है। कहना न होगा कि तथाकथित उत्तराधुनिकतावादी सैद्धांतिकी के मूल में जो "सत्य" के महाव्याख्यानों के प्रति संशय या मुखर विद्रोह भी है — (और जिसके चलते पश्चिमी सैद्धांतिकी का विमर्श "उत्तरोत्तर" ही होता गया जैसे — उत्तर–संरचनावाद जो कालक्रमानुसार उत्तराधुनिकतावाद से पहले की घटना है, उत्तर–साम्राज्यवाद/उत्तर–उपनिवेशवाद/उत्तर–स्त्रीवाद, उत्तर–मानववाद, उत्तर–चिंतन, उत्तर–सैद्धांतिकी इत्यादि) उस महा/सर्वग्रासी "सत्य" के प्रत्याख्यान के आचार्य के रूप में मिशेल फूको को जाना जाता है।

चूँकि अधिकांश पश्चिमोन्मुखी भारतीय बौद्धिक वर्ग में भी उसी "ज्ञान" अथवा "सत्य" को, जो जीवन के किसी भी पक्ष–सामाजिक, आर्थिक सांस्कृतिक, राजनीतिक अथवा संस्थागत ज्ञान के विभिन्न रुपों–मानविकी, कला, साहित्य, विज्ञान, प्रौद्योगिकी आदि से सम्बन्धित हो, सत्य मान लिया जाता है, जो पश्चिमी बुद्धिजीवी/बौद्धिक विमर्श द्वारा स्थापित अथवा प्रचारित–प्रसारित करवाया गया हो। अतः आंरभ में ही "उत्तर–आधुनिकतावाद" के कुछ प्रमुख बिन्दुओं पर दृष्टि डालना ठीक होगा।

हालांकि उत्तराधुनिकता के उदय व विकास के विषय में तीव्र मतभेद पश्चिमी विमर्शों में हुए हैं, जिससे कोई भी सर्वमान्य "अर्थ"/परिभाषा उत्तर–आधुनिकतावाद को नहीं दी जा सकती है, फिर भी यह माना जाता रहा है कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में डार्विन और नीत्शे के विमर्शों में उस समय के स्थापित "सत्यों" का विखण्डन या प्रत्याख्यान किया गया। तत्पश्चात चित्रकला, स्थापत्य, तकनीकी/प्रौद्योगिकी, साहित्य तथा वैज्ञानिक शोध के विभिन्न प्रयोगधर्मी रुपों में तत्कालीन "आधुनिकता" के द्वारा स्थापित मान्यताओं/सिद्धांतों का खण्डन आरम्भ हुआ। वहीं दूसरी ओर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मनोवैज्ञानिकों, नृतत्वशास्त्रियों तथा पश्चिमी भाषाविज्ञान के आचार्यों ने उपलब्ध तथा अबाधित (और अप्रश्नांकित) ज्ञान/सत्य की संरचनाओं को प्रश्नांकित कर उनकी विरचना अथवा पुनर्रचना पर बल दिया और उसकी मीमांसा भी तैयार की।

कुछ नव–वाममार्गी चिन्तकों के द्वारा जहाँ एक ओर "सत्य" अथवा "ज्ञान" के एकवचनीय सत्तापरक, वर्चस्ववादी रुपों के प्रति खड़े हुए वैमर्शिक विद्रोह का स्वागत किया गया वहीं दूसरी ओर उनके द्वारा यह भी आशंका व्यक्त की गयी कि उत्तराधुनिकतावाद भी नवपूँजीवाद अथवा वैश्विक–पूँजीवाद का एक आकर्षक बहुकेन्द्रीय तर्क मात्र है, उससे अधिक कुछ नहीं है।

एक तीसरा पक्ष बहस का यह भी है कि उत्तर–आधुनिक प्रतीत होना वाला विमर्श आधुनिकता के वैमर्शिक, सांस्थानिक, सांस्कृतिक और तकनीकी/प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में सम्पन्न हुई उत्परिवर्तित आधुनिकता का ही एक रुप मात्र है। कहना न होगा कि मानवीय "मूल्यों" के प्रति चिंता और साहित्यिक, कला–सम्बन्धी क्षेत्रों में सौंदर्य–तत्त्व के प्रति विद्रोह भी आधुनिकता के स्वरों में से एक प्रमुख स्वर रहा। अतः इसे नव–आधुनिकता भी कहा गया।

यहाँ फूको तथा देरिदा उत्तर–आधुनिकता के प्रमुख स्वरों के रुप में सत्य के विमर्शों का खण्डन कर उनको विकेन्द्रित करते हैं। फूको द्वारा "सत्य" अथवा "ज्ञान" की विभिन्न निर्मितियों में छिपी हुई हिंसा को और विचारधारा के द्वारा समाज में असत्य और अन्याय की स्वीकृति की निर्माण–प्रक्रिया को परिलक्षित तथा विश्लेषित किया गया। अतः आधुनिकता के कुछ प्रमुख प्रतीकों/अर्थों जैसे स्वास्थ्य, न्याय, शिक्षा, यौनिकता, दैहिक भोगविलास इत्यादि के संस्थागत रुपों में प्रवाहित होने वाली हिंसा और उनके द्वारा सम्पादित अन्याय का फूको ने मुखर विरोध किया।

मज़ेदार बात यह है भी कि जहाँ सम्पूर्ण भारतीय बौद्धिक परिवेश (विश्वविद्यालयों तथा सांस्कृतिक संस्थानों में) में इसी बौद्धिक मुक्ति के उत्तराधुनिकी क्षण की महत्ता को स्वीकार कर वैमर्शिक उत्सव मनाया जा रहा था (जो अभी भी जारी है), वहीं दूसरी ओर कुछ एक भारतीय नागरिक (जिसमें अज्ञेय, निर्मल वर्मा, यशदेव शल्य, गोविंदचन्द पाण्डेय, रमेश चन्द्र शाह, से लेकर आशीष नंदी, कपिल कपूर, मकरन्द परांजपे, मुंकुन्द लाठ और अम्बिकादत्त जी के नाम लिये जा सकते हैं) इस वैमर्शिक कोलाहल तथा कार्निवाल के बीच स्थित हो यही सोच रहे थे कि भला भारतीय संस्कृति के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विमर्श में तो प्रारम्भ से ही बहुकेन्द्रिकता, अर्थबहुलता, अ–भाव का भाव, बहुवचनात्मकता के साथ एकत्व तथा समत्व–भाव (जिसे एकीकृत अथवा समरुपता के भाव से अलग देखा गया है) का प्रमुख लक्षण तथा महत्त्व रहा है और इसी कारण इसे "भारतीय" कहा जाता रहा है तो इस वर्चस्ववादी पश्चिमोन्मुखी उत्तर–आधुनिकतावादी विमर्श, जिसमें पश्चिम ही सार्वभौमिक है", जिसमें कोई भी भारतीय दृष्टि/दर्शन तत्त्व का समावेशन भी नहीं, उसे किस प्रकार से और क्यों मुक्ति/बौद्धिक मुक्ति का पर्याय समझा जा रहा है।

संक्षेप में, इस आलेख में एक लघु प्रयास किया गया है कि जो उत्तर–आधुनिकतावादी विमर्श के केन्द्र में चिन्ताएँ हैं और जिस प्रकार "सत्य" के प्रति विद्रोह है, जैसा कि मिशेल फूको के विमर्श में द्रष्टव्य है, उनको एक आधुनिक भारतीय चिन्तक, द्रष्टा, जिसे मोहनदास करमचन्द गाँधी (1869–1948) कहा जाता है, किस प्रकार सम्बोधित करता है और वह भी तब जबकि मिशेल् फूको और देरिदा जैसे उत्तर–आधुनिक चिन्तकों की वैमर्शिक दृष्टियाँ भविष्य में छुपी हुई थीं। दूसरे शब्दों में हमें इस प्रश्न से तो मुठभेढ़ करनी ही होगी– क्या हमने या कहीं हमने उत्तर–आधुनिकी विमर्श से प्राप्त "सत्यों" के प्रत्याख्यानों को ही "सत्य" के नये महावृत्तातों/महाख्यानों के रूप में ही स्वीकार तो नहीं कर लिया है ? और यदि हमें हमारी बौद्धिक बहस वाली परम्परा, जो सदैव से बहुवचनात्मक रही है, से "सत्य" के प्रयोगों की बौद्धिक व आचारगत शक्ति प्राप्त हुई है, तो हमें पश्चिम की वर्चस्ववादी वैमर्शिक राजनीति के बरक्स भारतीय वैमर्शिक विकल्प भी प्रस्तुत करने चाहिये। तभी भारत व पश्चिम की चिन्तन–पद्धतियों व दृष्टियों में एक लोकतांत्रिक समतापरक संवाद सम्भव है। गाँधी ने इसी वैचारिक स्वराज, जो कि आचारगत स्वराज का हीं एक अभिन्न अंग है, की ओर हिन्द–स्वराज (1909) में इशारा किया था। सम्पूर्ण उत्तराधुनिकी विमर्श मात्र बौद्धिकता की नींव पर खड़ा है– मूल्यों तथा सदाचार को नकारते हुए– क्योंकि मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता उन्हें हिंसा का रुप (आरोपित हिंसा) प्रतीत होती है। अतः प्रस्तुत लेख सत्य/असत्य, हिंसा/अहिंसा, शोषण/स्वतंत्रता जैसे प्रत्ययों पर गाँधी तथा फूको के विचारों के तुलनात्मक अध्ययन का प्रयास है।

सत्य और अहिंसा : गाँधी और फूको

फूको के विमर्शों में सत्य के लिये कामना (विल टु ट्रुथ) तथा ज्ञान के लिये कामना (विल टु नॉलेज) दो महत्त्वूपर्ण लेकिन परस्पर गहन रूप से सम्बन्धित प्रत्ययों के रुप में उपस्थित होते हैं। यह कहा जा सकता है कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समाज में ज्ञान की कामना अथवा प्राप्ति हेतु जितने भी उपाय या जितनी भी संस्थायें हैं वे उसी "सत्य" की स्थापना ज्ञान के रूप में करतीं हैं जिसे तत्कालीन सत्ता–संरचनाओं द्वारा अनुमोदित तथा पोषित/संरक्षित किया जाता है। अतः "ज्ञान" के निर्माण द्वारा जिन "सत्यों" को जनता को उपलब्ध करवाया जाता है वे सत्ताधारी वर्ग की सत्ता को बरकरार अथवा स्थायी बनाये रखने के लिये ही होते हैं। अतः वह सब कुछ "असत्य" अथवा "अज्ञान" है जो कि सत्तावर्ग द्वारा अनुमोदित नहीं है या जिससे सत्ताधारियों को सत्ता से च्युत होने का भय हो। इस प्रकार सत्य का कोई भी पक्ष फूको के विमर्श में अन्याय/हिंसा से अछूता नहीं हो सकता और न ही उसकी सम्भावना है। आखिरकार, यूरोपीय समाज द्वारा उन सभी "सत्यों" के प्रति, जिसमें उनका "ईश्वर" भी है, जो अनास्था व विद्रोह का भाव है वह दोनों विश्वयुद्धों के बाद जिसमें हिंसा, अन्याय, दुराचार, शोषण को मानवीय इतिहास की सम्भवतया सबसे भयानक घटनायें हुयीं, उपजी व्यापक अनास्थावादी मानसिकता व नैराश्य का ही तो अंग हैं, जिसका निरुपण फूको के विमर्श में हो रहा है। अतः "सत्य" के सभी विमर्श सत्ता–संरचनाओं तथा सत्ता–सम्बन्धों से ही परिचालित हो रहे हैं। सत्ता परिवर्तन होने पर पुनः सत्ता–सम्बन्धों के आधार पर ही नये "सत्यों" की स्थापना विभिन्न विचार धाराओं तथा संस्थाओं द्वारा की जाती है। और यह "सत्य" प्रसारण तथा उसकी स्वीकृति के निर्माण का उपक्रम या उद्योग ही ज्ञान–विज्ञान के महत्त्वपूर्ण उपक्रमों के रुप में जनता के समक्ष प्रस्तुत होता है। यह द्रष्टव्य है कि यहाँ "सत्य" सत्ता वर्ग के लिए मात्र एक उपकरण की तरह परिभाषित किया गया है। दूसरा महत्त्वपूर्ण विचार फूको ने व्यक्ति की स्व–केन्द्रिकता पर दिया ।

"स्व" का अर्थ यहाँ फूको आधुनिकता द्वारा प्रदत्त दैहिक अर्थात् देह–केन्द्रित–स्व के रुप में ही करते हैं जो कि आश्चर्यजनक रुप से आधुनिकता तथा उत्तर आधुनिकता दोनों के ही प्रमुख लक्षणों में से एक है। यह भी कि जिसे स्वतंत्रता माना जाता रहा है वह भी उसी सीमा से निर्धारित होगी जिस सीमा तक किसी व्यक्ति का अपनी देह/दैहिक विलासों पर अधिकार है। यहाँ गाँधी और फूको के बीच एक समानान्तर संवाद स्थापित कराने की आवश्यकता है। फूको से दशकों पहले हिन्द स्वराज में गाँधी जी रेखांकित करते हैं कि पश्चिमी सभ्यता में मूलतः दैहिक सुविधाओं की दृष्टि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से ही स्वतंत्रता अथवा स्वाधीनता का मूल्याँकन किया गया है । अतः यहाँ दैहिकता ही स्वाधीनता का मानक "सत्य" है । इस सभ्यता की सही पहचान तो यह है कि लोग बाहरी दुनियाँ की खोजों में और शरीर के सुख में धन्यता, सार्थकता और पुरुषार्थ मानते हैं।.... यह सभ्यता जैसे–जैसे आगे बढ़ती जाती है वैसे–वैसे यह सोचा जाता है कि लोग हवाई जहाज से सफर करेंगे और थोड़े ही घंटों में दुनियाँ के किसी भी भाग में जा पहुँचेंगे। लोगों को हाथ–पैर हिलाने की जरुरत नहीं रहेगी।.... सारा काम कल से ही किया जायेगा।.... आज तो तोप के एक गोले से हजारों जानें ली जा सकती हैं। यह सभ्यता की निशानी है।.... उसमें नीति या धर्म की बात ही नहीं है।.... फिर भी मैं आपसे बीस बरस के अनुभव के बाद कहता हूँ कि नीति के नाम से अनीति–सीखाई जाती है। शरीर का सुख कैसे मिले, यही आज की सभ्यता ढूँढ़ती है; और यही देने की वह कोशिश करती है। परंतु वह सुख भी नहीं मिल पाता। यह सभ्यता तो अधर्म है और यह यूरोप में इतने दरजे तक फैल गयी है कि वहाँ के लोग आधे पागल जैसे देखने में आते हैं।.... पैगम्बर मोहम्मद साहब की सीख के मुताबिक यह शैतानी सभ्यता है। हिन्दू धर्म इसे निरा 'कलजुग' कहता है।" (हिन्द–स्वराज पृ. 17–20)

आधुनिक पश्चिमी सभ्यता में सत्य के दैहिक सुख/सुविधा होने का विरोध गाँधी तथा फूको दोनों करते हैं, किन्तु गाँधी के पास अन्त में इस पीड़ादायी, अन्यायपरक "सत्य" से मुक्ति–प्राप्ति का एक रचनात्मक धर्म–नीति–केन्द्रित युक्ति है जिसे उन्होंने स्वराज तथा सत्याग्रह जैसे प्रत्ययों के माध्यम से "आधुनिक सभ्यता के ग्रसित मानव" के समक्ष रखा। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि गाँधीजी तो "सत्य" की एकवचनात्मक, एकपक्षीय, एकायामी व्याख्या कर रहे हैं तो यह हमारा भ्रम ही होगा क्योंकि गाँधीजी ने सदैव "सत्य" की बहुलार्थकता तथा बहुकेन्द्रिकता का ही समर्थन किया है – "सत्य का कोई एक रुप नहीं है। अतः हर कोई सत्य को उसी रुप स्वीकार अथवा ग्रहण करेगा जिस रुप में सत्य को वह प्रतीक अथवा संकेत के रुप में उसे देखता है। इसीलिये, सत्य के उतने ही रुप सम्भव हैं/होगें जितने मानव हैं। ..... किसी एक क्षण आपको जो विश्वास के साथ लगता है, वह आपका उस क्षण का सत्य है। यदि मनुष्य इस सापेक्षिक सत्य को भी साधे, तो वह सम्पूर्ण सत्य को प्राप्त कर सकता है। (जिसे ईश्वर कहा जाता है)।" (दि डायरी ऑफ महादेव देसाई, पृ. 120)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनैतिक ''सत्य'' के माध्यम से अन्याय, अनीति भी स्वीकृति कराए जा सकते हैं– जैसाकि फूको भी कहते हैं; किन्तु फूको से बहुत पहले गाँधीजी ने इसी ''अन्यायपरक, सत्ता–पोषित ''सत्य'' की विरचना कर डाली थी– ''सत्य पुस्तकों में नहीं पाया जाता है। वह तो प्रत्येक मानव के हृदय में है और हमें उसकी खोज अपने हृदय में ही करनी है और हमें इस प्रक्रिया में उस सत्य के रुप द्वारा प्रेरणा लेनी चाहिये जिसमें वह हमारे सामने आता है। किन्तु किसी को भी यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरे व्यक्तियों को अपने सत्य के मार्ग पर चलने के लिये हिंसात्मक तरीकों से बाध्य करे।'' (हरिजन नवंबर 24, 1933)

द्रष्टव्य है कि इसी बहुवचनात्मकता, बहुकेन्द्रिकता और खुलेपन के रहते गाँधीजी ने सत्य को विचार, वाणी तथा कर्म में स्थापित करने का आग्रह किया। फूको जहाँ ''सत्य'' के प्रति संशय तथा वैमनस्य से ग्रसित दिखाई देते हैं वहीं गाँधीजी ने ''सत्य'' के साक्षात्कार के लिये साधन–साध्य सिद्धांतानुसार ''अहिंसा'' के मार्ग पर चलने का सुझाव दिया — ''मेरे विचार में दो ही शाश्वत सिद्धांत हैं– सत्य और अहिंसा। मैं यहाँ तक कहूँगा कि असली सिद्धांत तो एक ''सत्य'' ही है।'' (दि डायरी ऑफ महादेव देसाई पृ. 271)। पुनश्च गाँधी फूको से दशकों पहले सत्य और अहिंसा (प्रेम व करुणा) के बीच के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को उद्‌घाटित करते हैं — ''सत्य तो सर्वव्यापक है। यह अहिंसा में नहीं है, लेकिन अहिंसा सत्य का अभिन्न अंग है। स्वस्थ और शुद्ध बुद्धि और चित्त द्वारा जो सत्य अनुभूत होता है, उसको सत्य मानते हुये वरण तथा अनुसरण करना चाहिये, तभी सत्य की सम्पूर्णता की ओर हम अग्रसर हो सकते हैं। हमें इसके लिये अहिंसापरक जीवन शैली का हिंसा प्रधान संसार के मध्य अनुसरण करना होगा और यह तभी सम्भव होगा जबकि हम सत्य को आचार में लायें । इस प्रकार मैं सत्य से ही अहिंसा के महत्त्व को प्रतिपादित करता हूँ।'' (हरिजन, फरवरी 22, 1942) अपनी जीवन–कथा को, जिसे उन्होंने ''सत्य'' का प्रयोग ''कहा, उन्होंने पाठकों के समक्ष अपनी उन अपूर्णताओं/कमियों/त्रुटियों को रखा जो कि आज के उत्तराधुनिकी नागरिक को असहज कर सकती हैं। अपने जीवन के उद्‌देश्य को उन्होंने इस तरह रेखांकित किया — ''सत्य के सार्वभौमिक स्वरुप का साक्षात्कार करने हेतु हमें लघुत्तम प्राणी के साथ एकत्व स्थापित करना होगा और जो मनुष्य ऐसा करने का प्रयास करता है, वह जीवन के किसी भी क्षेत्र का बहिष्कार नहीं कर सकता। (माई एक्सपेरिमेंट्स विद् ट्रुथ, पृ. 404)।''

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

फूको के विमर्श में "सत्य ही ईश्वर है। सत्य ही है— अन्य नहीं" जैसी गाँधीजी की अवधारणाओं को कोई स्थान नहीं मिलता है क्योंकि फूको ने सत्य को "अन्यायपरक असत्य" का ही एक रुप माना और उसी के प्रसारण व स्वीकृति से सत्तायें अपनी सत्ता को अक्षुण्ण रखती हैं। अतः फूको में "असतो मा असद् गमय" ही सुभाषित सिद्ध होता है। लेकिन फ्रॉम येरवदा मन्दिर (पृ.1) में गाँधीजी, प्रकारांतर से फूको को समझाते हुए कह रहे हैं कि माननीय फूको महोदय— सत्य के द्वारा ही सार्थक ज्ञान सम्भव है। अतः सत्य और ज्ञान योग की कर्मयोग (जिसे गाँधी ने सत्याग्रह की संज्ञा दी) द्वारा साधना करो । वही तुम्हें व तुम्हारे पश्चिमी विमर्श को मुक्ति की ओर, सत्य की ओर ले जायेगा। जहाँ सत्य है, वहाँ ज्ञान भी है जहाँ सत्य नहीं है वहाँ सत्य–ज्ञान भी असम्भव है। जहाँ सत्य/सच्चा ज्ञान है, वहीं आनंद है। वहाँ विषाद या दुःख का कोई स्थान नहीं है। जिस प्रकार सत्य शाश्वत है, उसी प्रकार से आनन्द भी शाश्वत है।

स्पष्ट ही है कि पश्चिमी सभ्यता की पीड़ा/व्यथा को व्यक्त करते हुए फूको के शोकग्रस्त दुःख के विमर्श में "सत्य", "अन्याय" "दैहिकता के स्वरुपों" की तो सम्यक् व्याख्या है, किन्तु मानवीय संत्रास से मुक्ति की संभावना नहीं है। सत्, चित्, आनन्द की त्रयी अनुपलब्ध है फूको के दर्शन में। अतः अशान्ति से और अशांति की ओर ले जाता है ऐसा सभ्यता विमर्श। अब यहाँ गाँधीजी ने सत्याग्रह, जिसे उन्होंने "सत्य–शक्ति" या "आत्मशक्ति" के रुप में परिभाषित किया था, की चर्चा समीचीन होगी। फूको के विमर्शों में सत्य और हिंसा/बल का एक अनवरत चलने वाला युग्म है। अतः "सत्य" का प्रश्न मालिक/ गुलाम, सही/गलत, नैतिक/अनैतिक, स्वस्थ/अस्वस्थ, प्राकृतिक/अप्राकृतिक, यौनिक/अयौनिक आदि जैसी सत्ता–संरचनाओं से परिचालित होने वाली वैमर्शिक विचार सारणियों द्वारा प्रभावित व निर्धारित होता है।

वहीं, दूसरी ओर मानवता को समता, शांति,प्रेम, दया, करुणा और सह–अस्तित्व के वातावरण की अति महती आवश्यकता यदि आज है, तो हमें गाँधीजी की सत्य–शक्ति या सत्याग्रह के आदर्शोन्मुखी संदेश को आज के भयावह संदर्भों में पुनः अपनाना होगा। फूको का नैराश्यपरक विमर्श आस्तित्वात्मक विखंडन करते हुए हिंसा की ओर संवेदित तथा प्रेरित करता है, (जैसाकि, प्रचण्ड–वाममार्गी समूहों की गतिविधियों से स्पष्ट ही है) वहीं गाँधी का सत्याग्रह–स्वराज व स्वदेशी जैसी आचारपरक पद्धतियों के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुसरण के द्वारा सर्वोदय की ओर मानव–हृद्य को रूपान्तरित करता है। इस रूपान्तरण के अभाव में ही फूको को अपने विमर्श के सारे नुस्खे प्राप्त हैं। परन्तु फूको के पास आलोचना तो है, समाधान नहीं। निदान तो गाँधी द्वारा प्रस्तावित सत्याग्रही हृद्य रूपान्तरण में ही हैं। गाँधीजी के शब्दों में कहें तो हमें सत्य की शक्ति/सत्याग्रह का प्रयोग अन्याय, असत्य व शोषण के विरुद्ध हर स्थिति में करना है– अहिंसा व करुणा के साथ। "सत्याग्रह का शाब्दिक अर्थ सत्य पर खड़े रहना है और इस प्रकार इससे आत्म–शक्ति की व्यंजना भी होती है। सत्याग्रह में हिंसा को स्थान नहीं है।" (यंग इंडिया मार्च 23, 921) हरिजन (सितंबर 16, 1939) में गाँधीजी ने पुनः स्पष्ट किया कि "सत्याग्रह के शब्दकोश में शत्रु जैसा कोई प्रत्यय नहीं है। दूसरे शब्दों में एक सत्याग्रही के लिये शत्रु भी मित्रवत् ही होता है।" अतः राजनीतिक विरोध तथा सामाजिक परिवर्तन की एक नीति परक/धार्मिक शब्दावली और व्याकरण सत्याग्रह व स्वराज की अवधारणाओं के द्वारा गाँधीजी ने हमारे /आधुनिक विश्व के सम्मुख रखी है जिसके केन्द्र में सत्य क़े प्रति आग्रह स्पष्ट रुप से स्थित है। गाँधी का यही सत्य हमें फूको के नैराश्य–परक विचार तथा पश्चिमी विमर्श की वर्चस्ववादी हिंसा के बीच हमें सत्य और अहिंसापरक स्वराज की ओर प्रवृत्त होने के लिये प्रेरित करता है, करता रहेगा।

एफ-27, सेक्टर 25
चण्डीगढ़-1600114

सन्दर्भ ग्रन्थ –

– *मिशेल फुको, एथिक्स : सबजेक्टिविटि एण्ड ट्रुथ, लंदन, पेग्विन बुक्स, 2000, प्रस्तुत आलेख में फुको के विचार संक्षेप में मुख्यतः इसी पुस्तक से लिये गये है।*
– *गाँधीजी, हिन्द–स्वराज, अहमदाबाद, नवजीवन, 2008*
– *महादेव, दि डायरी ऑफ महादेव देसाई अहमदाबाद, नवजीवन, 1932*
– *गाँधीजी, माई एक्सपेरिमेंट्स विद्, ट्रुथ, अहमदाबाद, नवजीवन, 1945*
– *गाँधीजी, फ्रॉम येरवदा मंदिर, अहमदाबाद, नवजीवन, 1945*

◆◆◆

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

धर्मों की तुलना पर कुछ प्रारंभिक विचार

मुकुन्द लाठ

धर्म के तुलनात्मक अध्ययन की बात करें तो पहले ही अनायास प्रश्न उठते हैं : धर्म क्या? तुलना से आशय क्या?

धर्म क्या? अर्थात् धर्म का लक्षण क्या? (कहना न होगा कि धर्म को यहाँ 'रिलिजन' के पर्याय के रूप में लिया जा रहा है)।

आगे बढ़ने के लिये एक लक्षण यह किया जा सकता है : धर्म मनुष्य चेतना की एक ऐसी निहित लोकोत्तरमुखी प्रवृत्ति या प्रवणता है जो उसके जीवन पर, उसकी समूची जिजीविषा पर, उसके पूरे 'होने' पर व्याप्त होकर उसकी रहनी–करनी को (उसके व्यवहार को) रूप देती है। कर्म, ज्ञान, भाव, सब पर व्याप्त होकर यह प्रवृत्ति कई रूप लेती है (और भी रूपों की संभावना रखती है)।

तुलना इसके विभिन्न रूपों के बीच की जा सकती है। रूपों के पीछे निहित अभिप्राय और दृष्टि–भेद की तुलना भी की जा सकती है। यह दूसरे प्रकार की तुलना ही अधिक सार्थक लगती है। तुलना कैसी भी हो, कई रूप ले सकती है, विभिन्न प्रश्न मन में रखते हुए, कई परिप्रेक्ष्यों, पद्धतियों से की जा सकती है।

पर कैसी भी तुलना करें, तुलना करने में ही एक मूल प्रश्न ऊह्य है : धर्म के अगर रूप अनेक हैं तो ये सब 'धर्म' हैं, इसकी पहचान क्या? सब धर्म कहलाते रूपों में वह अनुगत सामान्य गुण–धर्म क्या है जो सबको धर्म का रूप देता है? या यों कहें कि धर्मत्व क्या, जिसकी पहचान 'धर्म' के रूप में होती है?

हमने ऊपर एक लक्षण आगे रखा है, जिसे एक परीक्षा–चाहता अभ्युपगम कह सकते हैं। परीक्षा में आगे बढ़ते हुए कहा जा सकता है कि तुलना भी एक परीक्षा का आधार हो सकती है, क्योंकि तुलना एक साधर्म्य को मानकर चलती है और तुलना की प्रक्रिया इस ऊह्य और अस्फुट– से साधर्म्य– या कहिये अनुगत या सामान्य गुण धर्म– को स्फुट से स्फुटतर कर सकती है। पर प्रश्न उठ सकता है : क्या ऐसी प्रक्रिया से धर्मत्व सामान्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तक पहुँचा जा सकता है? क्योंकि जिस तुलना की हम बात कर रहे हैं वह सहज अपरीक्ष्य भाव से धर्म के रूपों को धर्म–भिन्न रूपों से पहले ही पहचान कर आगे बढ़ती है; वह धर्मत्व का लक्षण करने की ओर नहीं बढ़ती, एक अनकहा सा लक्षण मान कर चलती है। यह पथ संदिग्ध जान पड़ता है क्योंकि एक तो, साफ ही, धर्म की पूर्व गृहीत सी पहचान में भ्रांति और पूर्वाग्रह का होना सहज है। दूसरे धर्मत्व को 'जो है', उपलब्ध रूप–संभार, उस तक सीमित नहीं किया जा सकता। धर्मत्व एक प्रत्यय ही हो सकता है जो एक आदर्श पालता है (धर्म जो भी हो, उसे होना क्या चाहिये, यह प्रश्न आदर्श में प्रोत रहता है)। तभी धर्म और भी संभावित रूप ले सकता है। और फिर यह संदेह तो सहज है कि जिसे हम धर्म कह रहे हैं उसमें धर्म का लक्षण है भी या नहीं? भूलना नहीं चाहिये कि धर्म यहाँ रिलिजन का पर्याय है और अभी पिछले दिनों तक ईसाई लोग अपने ही रिलिजन को रिलिजन कहते थे, अन्य सदृश से लगते धर्म के रूप धोखा थे : अंधविश्वास या मिथ्या या भ्रांत थे। तुलनात्मक चेतना को — जिस चेतना के बिना यों भी कोई पहचान नहीं बनती— उसे धर्म जैसे लगते हों, पर वास्तव में धर्म थे नहीं, क्योंकि धर्म — वास्तव धर्म — तो उनका ही धर्म था। कहना न होगा कि आज का तुलनात्मक अध्ययन इस भ्रांति से बचना चाहता है, पर लगता है कि इन अध्येताओं के बड़े समूह के लिये धर्म की पहचान का आधार फिर भी उनके लिये बहु–परिचित ईसाई धर्म ही रहता है। वैसे ही जैसे सभ्यता के टॉयनबी जैसे विशद विद्यार्थी के लिए भी सभ्यता क्या है, उसकी आंतरिक संरचना क्या है, इसका आधार पश्चिम की सभ्यता ही बनी रही। यह स्वाभाविक है, बोध–के–धरातल–को बनाता संस्कार कहा जा सकता है। पर दोष–पूर्ण भी है ही।

पर इसका अर्थ यह भी नहीं कि जिन्हें हम धर्म मानते हैं, उन रूपों को — चाहे वे अब प्रचलित न हों, केवल वर्णन–निरूपण से जाने जाते हों— ऐसे रूपों को अलग रखकर भी धर्म का लक्षण किया जा सकता है। वैसे ही जैसे काव्य का लक्षण करने में उपलब्ध और स्वीकृत काव्य–रूपों की उपेक्षा का अर्थ नहीं बनता। काव्य का उदाहरण दिखलाता है कि लक्षण को उपलब्ध और स्वीकृत तक सीमित करना भी विचार का मार्ग नहीं हो सकता। उपलब्ध की सीमा होती है, स्वीकृत में संकोच, रूढ़ियाँ या संस्कार–बद्धता का भय। काव्य के बारे में विचार करते हुए प्रश्न उठता है : काव्य की आत्मा क्या है ? या कहिये, उसका स्वरूप या काव्यत्व प्रत्यय क्या है, जो काव्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को काव्य बनाता है, अकाव्य से अलग करता है। काव्यत्व और धर्मत्व जैसे प्रत्यय का मर्म संभावना और आदर्श पालता है। प्रत्यय का लक्षण चाहे उपलब्ध और स्वीकृत से चले पर यह इनसे इंगित लेता हुआ इन्हें खोलता है, नये उन्मेष का क्षितिज सामने रखता है। एक खुलापन— जो विचार का सहज लक्षण है — आज के धर्म–विचार में भी देखा जा सकता है। आज ऐसे बहुत से प्रचलित रूप हैं जिन्हें धर्म (रिलिजन) के नाम से स्वीकार किया जाता है, जिन्हें पहले इस विषय के विचारक जहाँ से चले थे, इस कोटि में नहीं रखना चाहते थे। इसके पीछे विचार में उदार खुलेपन का आना है जो पहले नगण्य था।

पर लक्षण पर आयें। एक लक्षण से हमने आरंभ किया ही है : धर्म को हमारे (मनुष्य के) होने पर, ज्ञान–भाव–कर्म सब पर व्याप्त, हमारी जिजीविषा को, जीवन–यापन को ही रूप देती लोकोत्तर प्रवृत्ति/प्रवणता कहा है। लक्षण विस्तार चाहता है। अन्य सदृश प्रवृत्तियों और उनके रूपों से व्यावृत्ति चाहता है। या यह कहिये कि लक्षण को अव्याप्ति और अतिव्याप्ति से बचाना ज़रूरी है। यह ठीक है कि हम लक्षण करते हैं तो एक अनतिस्पष्ट पर बुद्धि में सहज–निविष्ट सी पहचान हममें जागती है। धर्म, दर्शन, काव्य, कथा जैसी कोटियों की पहचान ऐसा रूप लेती दिखती ही है, बहुत कुछ वैसे ही जैसे जड़, चेतन, प्राण, जीवन, मृत्यु ऐसी कोटियाँ हमारी पहचान को ही धरती देती हैं, हमारी पहचान की बुद्धिवृत्ति में ही पूर्व गृहीत या ऊह्य रहती हैं। लक्षण की प्रक्रिया उसे स्पष्ट करने की प्रक्रिया होती है। इसी में लक्षण की सार्थकता है। हम व्याप्ति, अतिव्याप्ति की बात करते हैं तो सहज पहचान को परिस्फुट करना हमारा उद्देश्य होता है।

तो आगे बढ़ें । स्पष्टीकरण का पहला ही प्रश्न होगा : हमारे लक्षण में लोकोत्तर का क्या अर्थ? और उसे प्रवृत्ति क्यों कहा? लोकोत्तर की मान्यता, उसमें आस्था या श्रद्धा या विश्वास क्यों नहीं कहा ? कह सकते हैं एक अतिव्याप्ति से बचने के लिये । क्योंकि इहलोक ही सब कुछ नहीं है, यह मान्यता तो दर्शन में भी पाई जा सकती है। और दर्शन में भी लोकोत्तर के लिये जिस शब्द प्रमाण की बात की जाती है, उसकी स्वीकृति श्रद्धा–आस्था–विश्वास की धरती पर ही होती है, क्योंकि लोकोत्तर प्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष–आधारित प्रमाण द्वारा अनुमित नहीं किया जा सकता। और धर्म से भी बढ़कर लोकोत्तर की स्वीकृति अध्यात्म में है। दर्शन धर्म नहीं है, यह हम सहज स्वीकार कर भी लेते हैं। दर्शन लोकोत्तर से इनकार कर सकता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है, उसे अयुक्त ठहरा सकता है; लोकोत्तर को मानता हुआ भी धार्मिकता पर, धर्म–प्राण जिजीविषा पर — जीवन की धर्म–प्रवण रहनी–सहनी–करनी पर प्रश्न उठा सकता है, उसे नकार सकता है।

पर अध्यात्म? अध्यात्म भी लोकोत्तर–मुखी होकर जीवन–व्यापी होता है। पर क्या उसे धर्म की कोटि में रखा जा सकता है ? कई धर्म तो उससे कतराना ही चाहते हैं, या उसे अपनी सीमाओं में बाँध रखना चाहते हैं, जैसे ईसाइयत, इस्लाम। और आदिम धर्मों में तो उसकी उपस्थिति नहीं सी लगती है, या बहुत ही गौण–प्रच्छन्न हो तो हो। पर जो भी हो, आध्यात्मिक का धार्मिक होना आवश्यक नहीं। कबीर को ही लीजिये। फिर यह भी देखिये कि अध्यात्म की जीवन–दृष्टि ऐसी भी हो सकती है जो लोक और लोकोत्तर में भेद न करे। वेदान्त के लिये जो है सो ब्रह्म ही है, लोक भी लोकोत्तर भी। या जिसे हम आमतौर पर लोक और परलोक (स्वर्ग, वैकुण्ठ .... वहाँ रहते देवता, ईश्वर ....) कहते यह दोनों ही संसार हैं और माया हैं (वास्तव में हैं ही नहीं)। ऐसा अभेद चार्वाक जैसी जीवन–दृष्टियों में भी मिल जायेगा : उनके लिये जो कुछ है जड़ है, लोकोत्तर कुछ नहीं है, मिथ्या कल्पना है। विज्ञान भी हमारे जीवन की रगों में आज फैलकर उतरा है। विज्ञान में भी ऐसी ही जड़वादी दृष्टि ऊह्य है। हालांकि कह सकते हैं कि जानबूझकर ऊह्य रखी गई है, ताकि विज्ञान की अपनी विशिष्ट विचार–संधान और प्रयोग की प्रक्रिया व्यापृत हो सके। जगत् को जानने–समझने–काम–में–लेने का एक विशेष मार्ग अपना सके। यों विज्ञान के जड़वाद को स्वचेतनभाव से विज्ञान–प्रक्रिया तक सीमित भी कहा जा सकता है। हम पाते भी हैं कि कई वैज्ञानिक विज्ञान–चिन्तन और कर्म के बाहर जड़वादी नहीं होते। धार्मिक भी हो सकते हैं, अध्यात्मिक भी। पर धर्म का लक्षण करने के लिये यह बात अप्रासंगिक है।

फिर भी हमारे लिये एक टेढ़ा प्रश्न खड़ा होता है : क्या धर्म का लक्षण करने के लिये लोक और लोकोत्तर में भेद मानना आवश्यक है? लगता ऐसा ही है। जिस धर्म के संस्कार में पले विचार में धर्म पर तुलनात्मक विचार का आरंभ हुआ वह लोक और लोकोत्तर में तात्त्विक भेद करता है। धर्म की लोकोत्तर उन्मुखता का अर्थ इस विचार में बनता यह लगता है : इस मर्त्यलोक से परे एक दिव्य, अमर्त्य ज्ञान–शक्ति संपन्न लोक है/हैं जहाँ एक या अनेक लोकोत्तर सत्ताएँ हैं, जिनका जगत् पर, हम पर, आधिपत्य–अधिकार है। साफ ही, लोकोत्तर दिव्य सत्ता/सत्ताओं के स्वरूप, गुण धर्म

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क्या? इस बात पर भिन्न धर्मों में मतभेद है और धर्म–तुलना का एक लक्ष्य इसी भेद का अध्ययन करना होगा ही। पर दिव्यसत्ता/सत्ताओं में विश्वास, इनको पुरुषविध देव–देवियों के रूप में मानना, ऐसी आस्था के साथ किसी सार्थक, निबिड अर्थ में जुड़कर, प्रेरित–प्रणुदित होकर, जीवन–यापन करना, इसे अनायास ही धर्म का एक लक्षणीय लक्षण मानने की ओर हम झुक सकते हैं। पर फिर बौद्ध या जैन धर्मों के बारे में क्या कहेंगे? इनमें देवी–देवता हैं भी तो हमारी तरह ही संसारी हैं, भवचक्र में फंसे हैं, सत्य से वंचित हैं। हमारे जीवन–यापन की प्रज्ञा के लिये उनका महत्त्व उपेक्ष्य है। बौद्धों में जिस धम्मं (धर्मम्) शरण गच्छामि का प्रण जीवन की प्रेरणा बनता है, उस धर्म का हमें अपने सत्य की ओर ले जाने वाले साधनीय मार्ग का देवी–देवताओं से संबंध नहीं। तो क्या इन और ऐसे धर्मों को हम अपने अभिप्रेत धर्म की कोटि में रखेंगे या नहीं? या इन्हें अध्यात्म के ही मार्ग कहेंगे?

प्रश्न के एक उत्तर में यहाँ योग को लिया जा सकता है। पतंजलि जैसा योग। प्रकट ही योग अध्यात्म का मार्ग है। हमारे सत्य की ही साधना है। पर थोड़ा भी सोचिये तो जैन और बौद्ध मार्गों को धर्म कहना और योग को धर्म कहना एक ही बात नहीं ठहरती है। हम धर्म का लक्षण जो भी करें, जैन और बौद्ध मार्गों को धर्म कहने की ओर निःसंकोच भाव से झुक सकते हैं, पर योग को धर्म की कोटि में रखने मैं गहरा संकोच होगा। यहाँ भेद क्या? इस पर विमर्श करें तो धर्म और अध्यात्म के भेद पर प्रकाश पड़ सकता है।

एक बात तो सतह पर ही दिखती है। योग का संबंध व्यक्ति से है, पर जैन, बौद्ध, ये व्यक्ति–साधना के मार्ग हों, तो भी ये समाज–व्यापी हैं। ये पूरे समाज के जीवन व्यवहार को प्रभावित करते हैं, रूप देते हैं।

आपत्ति हो सकती है कि समाज–विमुख,निवृत्ति–मार्गी योगी भी अपना समुदाय, अपनी जीवन–यापन परंपरा बनाते ही हैं, इस परंपरा का पोषण करते हैं, इसे बढ़ाते हैं। दूसरे शब्दों में इनका भी समाज होता है।

इसके उत्तर में वह पुरानी युक्ति संगत ठहरती दिखती है कि गृहस्थ के बिना मनुष्य का व्यवहार नहीं बनता, समाज आधार गत रूप से गृहस्थों का समाज होता है, गृहस्थ–मंडल से अलग हुए समाज, ~~जैसे~~ अध्यात्म–परक सन्यासी– समाज, गृहस्थों के उपजीवी होते हैं। यहाँ 'गृहस्थ' शब्द को संतति–परंपरा की संभावना के अर्थ में लेना चाहिये, उस व्यवहार के अर्थ में जिसमें अर्थ–काम की व्यवस्था हम बनाये रखने की ओर सतत सचेष्ट रहते हैं। इस अर्थ में व्यवहार को अर्थ–काम ही नहीं, धर्म–अर्थ–काम, इस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

त्रिपुटी के साथ जोड़ना चाहिये, धर्म के बिना, औचित्य–बोध में बसे नियम–विधान के बिना, हमारी समाज–परंपरा की व्यवस्था को नहीं बनाया–समझा जा सकता है; धर्म–अर्थ–काम की त्रिपुटी में धर्म का यही अर्थ, महत्त्व और अनिवार्यता है। यहाँ इस त्रिवर्ग में 'धर्म' का अर्थ स्पष्ट ही 'रिलिजन' से सर्वथा भिन्न है, हालांकि त्रिपुटी के 'धर्म' का आधार ऐसा हो सकता है जिसका रिलिजन के लोकोत्तर से आंतरिक संबंध हो। पर ऐसा आवश्यक नहीं, जैसा कि हमारे आज के संविधान में ही प्रकट है।

पर समाज के व्यवहार का (त्रिपुटी के अर्थ में औचित्य–गर्भ) 'धर्म' होने के लिये, उसके व्यवहार–विधान को आदर्श देने के लिये, उसे प्रेरित करने के लिये, रिलिजन के अर्थ में धर्म भी समाजों के लिखित या अलिखित संविधान का उत्स रहा ही है (आदिवासी समाजों में), और 'सभ्य' कहलाते समाजों में भी है ही (जैसे इस्लाम में)। यह बात हिन्दू धर्म ('रिलिजन') के संबंध में भी कही जा सकती है। पर वहाँ वैसी स्फुट नहीं है। हिन्दू धर्म का रूप ही ईसाइयत और इस्लाम जैसा स्फुट–परिनिष्ठित नहीं है, अपेक्षया बहुत जटिल है। इस्लाम और ईसाइयत के व्यवहार–विधान को नियत करते सूत्रों में एकत्व अधिक प्रकट है। हिन्दू धर्म में नहीं है। हिन्दू धर्म को इस संदर्भ में स्मार्त धर्म कहें तो भी स्मृतियों का अनैक्य, वैविध्य, परस्पर–विरोध, छुपा नहीं है। और तब यह भी प्रश्न होगा कि शैव, वैष्णव, शाक्त, इनके आगमों को क्या कहेंगे? ये स्मृति को नहीं भी मानते हैं; वेद का भी प्रत्याख्यान करते पाये जाते हैं। फिर स्मृति में यह आशय भी स्पष्ट नहीं उभरता कि समाज के सारे ही व्यवहार को किसी एक–अद्वय निर्धारित लोकोत्तर सत्य से नियमित किया जाये। भिन्न समाजों, समुदायों को अपने अपने आम्नायों (विधान–परंपरा) से चलने की छूट दी गई है। यही नहीं, किसी भी राज्य के अन्य राज्यों से व्यवहार का आधार साम– दाम–दण्ड–भेद अर्थात् लौकिक बुद्धि–माना गया है, अलौकिक नहीं। और राज्य के बिना समाज के व्यवहार–विधान की कल्पना कैसी?

पर, चलिये, हम हिन्दू–धर्म को इस्लाम और ईसाइयत के साथ रख भी दें, और यह मान भी लें कि धर्म का एक मूल लक्षण समाज–व्यवहार का यथा–सभंव संपूर्ण विधान होता है (या उसका यह आदर्श तो होता ही है, और उसके स्वरूप का अभिन्न अंग है), तो भी बौद्ध, जैन जैसे धर्मों के लिये ऐसा कब से कहेंगे? न ऐसा हम शैव, वैष्णव, शाक्तों .... के लिये कह सकते हैं। इन धर्मों के अनुयायी स्मृति को व्यवहार–विधान का आधार मान भी लें

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तो भी इनका 'रिलिजन' (हमारे यहाँ अभिप्रेत अर्थ में 'धर्म') इनके लिये इस व्यवहार से अलग होता है : वह धर्म–अर्थ–काम की त्रिपुटी के वलय में नहीं समाता। इन आगम धर्मों के लिये स्मृति–धर्म आज के संविधान की तरह ही एक तरह का ऐसा विधान–तंत्र ठहरता है जिसका उनके धर्म के मर्म से संबंध नहीं ,चाहे इस विधान–तंत्र का आधार लौकिक बुद्धि हो या कोई तथाकथित अलौकिक शब्द या श्रुति। यह बात उनके लिये अवांतर है।

तो फिर वही पुराना प्रश्न नई कसक के साथ उभर आता है : धर्म–रिलिजन के अर्थ में धर्म — का अनुगत सामान्य लक्षण क्या? लक्षण क्षीण से क्षीणतर होता ही दिख रहा है !

तो क्या कर्मकाण्ड को धर्म का सामान्य लक्षण कहा जा सकता है? पर यहाँ पहले ही यह दिख जाता है कि लोकोत्तर संबंधी कर्मकाण्ड के कुछ ही रूप ऐसे हैं जिन्हें समाज–व्यवहार से जोड़ा जा सकता है — जैसे कि मृत्यु के बाद के अनुष्ठान। तो भी धर्म का लक्षण–कर्ता कह सकता है कि धर्म के लक्षण में जब कर्मकाण्ड को रखा जाता है तो लोकोत्तर सत्ताओं (जिनमें, देवी–देवताओं के सिवा बुद्धों, तीर्थंकरों, अवतारों, सिद्ध, महात्माओं, पितरों को भी गिना जा सकता है), इनके प्रति, इनके उद्देश्य से किया गया कर्मकाण्ड ही रिलिजन है। यही हमारा उद्दिष्ट 'धर्म' है।

पर कहना न होगा कि कर्मकाण्ड की प्रवृत्ति बहुवृत्तिक होती है। हमारा सारा व्यवहार ही कर्मकाण्ड से भरा होता है। यहाँ तक कि कर्मकाण्ड में लौकिक अलौकिक का भेद भी आंदोलित–डाँवाडोल ही उभरता दिखता है। 'नमस्कार' को ही लीजिये। क्या यह लौकिक अनुष्ठान है या अलौकिक? इसका तत्त्व (या कहिये इसका 'हृदय') क्या है? मैं आप अन्य/अन्यों का सम्मान करने के लिये हाथ जोड़कर अभिवादन करते हैं, उनकी ओर उन्मुख होते हैं। पर सम्मान किसका ? एक शरीर–मन विग्रह मात्र का? फिर उसका सम्मान उसे क्या मानकर? लौकिक या अलौकिक? उसका लौकिक दिखना यहाँ प्रमाण नहीं हो सकता। मैं नदी/पत्थर/पहाड़ के आगे हाथ जोड़ सकता हूँ, जो लौकिक ही नहीं, भौतिक दिखते हैं। पर मैं क्या इन्हें निरा–कोरा जड़ विग्रह मानकर सम्मान जताता हूँ ? या इनमें दिव्य, लोकोत्तर कुछ का बोध करते हुए, इस तत्त्व की श्रद्धा मन में रखते हुए? उत्तर की आवश्यकता नहीं। तो फिर, आप जो निर भौतिक नहीं हैं, आप के आगे हाथ जोड़ता हूँ तो क्या आपको केवल शरीर–मन का लोक–सामित विग्रह मानते हुए? कह सकते हैं, आत्म–सम व्यक्ति मानते हुए। पर 'आत्म–सम' में आत्म

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क्या? यह मूल प्रश्न तो खुला ही रह जाता है। या कहिये, लोक–लोकोत्तर के बीच दोलायमान श्रद्धा/विश्वास का विषय रहता है। यह बात नमस्कार की क्रिया — उसके करने या अनुष्ठान–में निष्ठा नहीं होती, नमस्कार–कर्ता की चेतना में निविष्ट होती है। देश–भक्ति के अनुष्ठानों/कर्मकाण्डों को ही लीजिये। अब देश क्या है? एक प्रत्यय है, एक आदर्श है। कोई प्रत्यक्ष, कोरी लौकिक–भौतिक, सत्ता तो नहीं ही है। प्रत्यक्ष में ऐसा दिखना तो देश के अ–लोक–सीमित स्वरूप का इंगित या प्रतीक भर होता है। वैसे ही जैसे प्रतिमा देवता का संकेत होती है। यह हम जानते ही हैं। पर फिर भी पूछ सकते हैं : इस संकेत का विषय अपने स्वरूप में लौकिक है या अलौकिक? पर यहाँ देखने की बात यह है कि इस कोटि–द्वंद्व में एक को चुनने का आधार अनुष्ठान का होना, न होना या उसका रूप नहीं हो सकता। बल्कि द्वंद्व के बीच की रेखा ही धुँधली होती दिख सकती है। इतना तो उभर ही आता है कि कोई लक्ष्मण–रेखा नहीं है — प्रतीक में ऐसा कोई अवच्छेदक स्पष्ट नहीं जो कोटि को नियत करता हो। देश–भक्ति में दिव्यत्व का भाव हो भी सकता है — अपने देश में तो रहा ही है और अब भी उसके अभाव की बात कब से की जा सकती है? 'नहीं होना चाहिये' यह एक प्रत्यय और आदर्श ही हो सकता है, और आदर्श को क्या कहेंगे, लौकिक या लोकोत्तर? प्रत्यक्ष तो वह नहीं ही होता है। हां, देश–भक्ति एक भीड़, भेड़–चाल जैसी निरी देखा–देखी की संस्कार–बुद्धि भी हो ही सकती है। फिर देश को एक भू–वलय सीमित राज्य–शक्ति मात्र मानना तो कोई नई बात नहीं है। 'राज्य' या 'राष्ट्र' का दण्ड नीति में यही अर्थ है। पर आज की देश–भक्ति का 'देश' स्पष्ट ही ऐसा 'राज्य' मात्र नहीं है, चाहे 'देश' को एक भौतिक–आर्थिक–राजनैतिक सत्ता मात्र मानने की प्रवृत्ति और आदर्श भभी प्रबल हो। है ही। पर फिर बात स्पष्ट ही दृष्टि–भेद की और यों प्रत्यय/आदर्श भेद की हो जाती है। धर्म–रिलिजन–के कर्मकाण्ड के सिलसिले में एक बात और की जा सकती है जिसका संबंध 'अन्ध विश्वास' जैसी धारणा से है। हम पाते हैं कि कई धार्मिक अनुष्ठानों की लोकोत्तरता एक ऐसे अलौकिक कार्य– कारण भाव को मान कर चलती है जो लोक–सिद्ध नहीं होते : प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष–गर्भ अनुमान की नितांत अवहेलना करते हैं। तभी उन्हें 'शब्द' या दिव्य या आर्षश्रुति द्वारा प्रमाणित माना जाता है : यज्ञानुष्ठान से स्वर्ग मिलेगा, मन्त्र–तन्त्र से रोग दूर हो जायेगा .... आदि। यहाँ कार्य–कारणभाव की पूरी स्वीकृति होती है। तभी माना जाता है कि अनुष्ठान की हर नियत क्रिया पुंखानुपुंखभाव से निर्दोष होनी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चाहिये, नहीं तो कार्य–सिद्धि नहीं होगी। पर यह कार्य–कारणभाव होता अलोक–सिद्ध है, तभी प्रत्यक्ष–अनुमान से परे शब्द–प्रमाण चाहता है। लक्ष्य है कि यहाँ हम कर्मकाण्ड के अनुष्ठान से ऐसी कामना की सिद्धि चाहते हैं, जो लौकैषणा–सिद्ध ही होती है, चाहे ऐसी अलौकिक वस्तु (या वस्तु– स्थिति) को ऊह्य रखती है जहाँ लौकिक सुख ही अपार हो जायेंगे, जैसे 'स्वर्ग'।

पर क्या धर्म–रिलिजन को ऐसे अलौकिक कार्य–कारण में विश्वास का पर्याय कहा जा सकता है? ऐसा कहना तो अविचार ही होगा। फिर धर्म और जादू–टोने में क्या अंतर होगा? धर्म को जादू–टोने के घेर में नहीं बाँध दिया जा सकता। घोर अतिव्याप्ति होगी। शाबर मंत्रों को कोई धर्म का नाम नहीं देता।

क्योंकि सोचिये। धर्म का आयाम व्यापक है। धर्म के साथ हमारे श्रेय–बोध का आत्मिक संबंध है। श्रेय–बोध के बिना हम मनुष्य ही नहीं। हमारे श्रेय–बोध का स्रोत अंततः धर्म ही उभरता है। वही आत्म चेतना श्रेय–बोध का उत्स है जिस मानव–चेतना के साथ धर्म का उदय हुआ। आज हम औचित्य–बोध को– नैतिकता को– रिलिजन के उपलब्ध पँचमेल प्रपंच से विश्लिष्ट रखना चाहते हैं; ऐसा किया भी जा सकता है, पर धर्म या रिलिजन–वृत्तिक चेतना से उसके निबिड़ संबंध का निषेध नहीं किया जा सकता।

पर श्रेय–बोध की बात उठी है तो इस संदर्भ में एक प्रश्न पर ध्यान दीजिये : नैतिकता का आयाम लौकिक है या लोकोत्तर ? लौकिकता को अगर प्रत्यक्ष और (तद्–गर्भ) अनुमान से परिभाषित किया जाये, जैसा हम अक्सर करते ही हैं, तो श्रेय–बोध को या नैतिकता को लौकिकता में कब से अपचित करेंगे ? तीखे प्रश्न रह ही जायेंगे : क्योंकि श्रेय क्या, उचित–अनुचित क्या, इसके लिये प्रत्यक्ष और अनुमान तो प्रमाण नहीं हो सकते। जो बुद्धि या प्रज्ञा इसके लिये प्रमाण होती है, वह लोक–व्यवहार से उठी हुई ही होती है। उसको रूप देती है। शब्द या भाषा उस प्रज्ञा का वाहन होती है। और भाषा को प्रत्यक्ष–अनुमान से बाँध रखना सभवंभव नहीं। बाँधने की समस्या असमाहित ही है, और रहेगी। हमारे आदर्श प्रत्ययों में अवधार्य होते हैं। और यह प्रश्न कि चेतना में प्रत्यय (विचार, बुद्धि, प्रज्ञा) का आयाम लौकिक है या लोकोत्तर, इसका उत्तर स्पष्ट ही प्रत्यक्ष, अनुमान से नहीं दिया जा सकता : प्रश्न और उत्तर दोनों उस बुद्धि, प्रज्ञा को ऊह्य रखते हैं जिसके बिना प्रत्यक्ष और अनुमान की बात नहीं की जा सकती।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सच तो यह है कि रिलिजन एक भानुमती का पिटारा है हमारी चेतना की तरह ही। पर, हाँ ,यह माना जा सकता है कि उसमें एक लोकोत्तर की उन्मुखता है जो कई रूप लेती है और मानव–व्यवहार को कई रूप देती है। पर हमने देखा कि इन रूपों में किसी सामान्य अनुगत लक्षण को ढूँढना आसान नहीं। सफ़ाई में कह सकते हैं कि हमारी विशुद्ध लौकिक प्रवृत्ति का भी सामान्य अन्य–व्यावृत्त लक्षण ढूँढें तो कितने अवच्छेदों पर जाकर रुकेंगे ? धर्म जैसे रूपों में लक्षण की शिथिलता तो मानकर ही चलना पड़ता है। लोकोत्तर क्या , इस प्रश्न को अलग भी रख दें तो भी हम पाते ही हैं कि हमारी प्रवृत्ति में लोकोत्तरता और लौकिकता यों घुली–मिली होती है कि दोनों को छाँटकर अलग कर देना संभव नहीं दिखता। और फिर यह तो है ही कि लोक–लोकोत्तर के बीच कोई भी लक्ष्मण–रेखा खींचिये, विचार में उखड़ जायेगी, और विचार ही ऐसी रेखायें खींचता है।

धर्म का धर्मेतर से एक गहरा अंतर श्रद्धा के आधार पर किया जाता है : युक्ति–बुद्धि (रीज़न) और श्रद्धा (फ़ेथ) में तात्त्विक भेद करते हुए। हर धर्म ऐसा नहीं करता पर ईसाइयत और इस्लाम में यह विचार का बड़ा विषय रहा है, वहाँ इस पर बहुत ज़ोर दिया गया है। धर्म का संबंध फ़ेथ से जोड़ा गया है, रीज़न से नहीं। पर इन धर्मों में श्रद्धा का अर्थ कुछ ऐसे तथ्यों में तर्कहीन विश्वास का नाम है जो अलौकिक चमत्कार जैसे हैं। जैसे यीशू को जन्म देकर भी उस की माता का कुँआरी रहना। यह ठीक है कि ऐसे चामत्कारिक विश्वास हर जगह पाये जाते हैं, पर, साफ ही, श्रद्धा का अर्थ ऐसे असंगत विश्वासों तक सीमित नहीं कर दिया जा सकता। जो युक्ति श्रद्धा को धर्म का अवलंब बताती है, वह यह मानकर चलती है कि श्रद्धा और तर्क बुद्धि मानव चेतना की दो स्वभाव से विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं। युक्ति–तर्क का संबंध लोक से है और श्रद्धा का लोकोत्तर से। लौकिक सत्य की उपलब्धि युक्ति बुद्धि से हो सकती है, पर अलौकिक सत्य की उपलब्धि श्रद्धा के बिना संभव नहीं, युक्तितर्क की वहाँ गति नहीं है। पर क्या श्रद्धा और तर्क में कोई ऐसा घोर विरोध है जो इनके स्वरूप में निहित हो? लोक हो या अलोक, क्या श्रद्धा के बिना हम ही कहीं होते हैं ? क्या हमारे जीवन के, हमारी रहनी के, हमारे ज्ञान, भाव, कर्म के चारों पाँव युक्तिबुद्धि पर ही टिके होते हैं ? अगर हम श्रद्धा और युक्ति–बुद्धि को सत्य के दो परस्पर–असंगत, असमंजस प्रमा–साधन कहना चाहें तो इतनी सी बात लीजिये : युक्तिबुद्धि से सत्य मिलेगा, इसके लिये कौन सा तर्क प्रमाण है? युक्तिबुद्धि से सत्य मिलेगा यह विचार का एक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आदर्श ही है, और कोई भी आदर्श युक्तिबुद्धि नहीं, श्रद्धा को ही आधार बनाता है। यह विश्वास कि बुद्धि हमें सत्य की ओर ले जायेगी, जगत् के ही नहीं, हमारे अपने भी सत्य की ओर ले जायेगी, यह भरोसा स्पष्ट ही श्रद्धा की माँग करता है। क्योंकि युक्तिबुद्धि इस पर सहज ही संशय कर सकती है; युक्ति से इसका खंडन कर सकती है। और श्रद्धा की बात करें तो श्रद्धा को भी हम प्रश्न–व्याकुल पाते हैं, संशय–दिग्ध; वह सदा युक्ति की मांग करती ही रहती है। श्रद्धा और युक्ति का विरोध आत्यंतिक तो नहीं ही ठहराया जा सकता।

यों भी सोचिये। सत्य–जगत् का हो या हमारा सत्य–सिद्ध नहीं, स्वरूपेण साध्य होता है। और जगत् को हम चाहे स्वरूपेण सिद्ध मान भी लें, जैसा हम अकसर करते हैं, तो भी हमारा सत्य तो साध्य ही है। हम में धर्म का होना ही हमें स्वरूपेण साध्य दिखाता है। या यों कहिये कि धर्म हम में है इसीलिये कि हम स्वरूपेण साध्य हैं। हम अन्य पशुओं की तरह स्वरूपेण सिद्ध (सिद्ध–प्राय) होते तो हममें धर्म नहीं होता। हम ही नहीं, हमारे साथ हमारा धर्म भी (हमारे अपने समूचे संस्कृति–जगत् की तरह) साध्य ही होता है।

हमारी साध्यता आदर्शों में पलती है, चाहे साध्य लौकिक हो या अलौकिक। और आदर्श श्रद्धा पर टिके होते हैं। आदर्श की धारणा में — और उसके धारण में — श्रद्धा का युक्ति से कोई स्वरूपगत विरोध नहीं है। दोनों साथ चलते हैं।

अब तक की इस चर्चा से यह उभरता दिख सकता है कि धर्म का कोई कसा हुआ , युक्ति–पर्याप्त लक्षण करना संभव नहीं। पर इतना कहने के बाद भी कहना होगा कि माना धर्म का कोई अवच्छेदक लक्षण हम नहीं कर सकते तो भी धर्म की एक पहचान तो हम ऊह्य रखते हैं, जैसा कि हमारी चर्चा में भी उभरता ही है। धुँधली ही सही ,धर्म की एक पहचान तो बनती ही है। कह सकते हैं, कुछ वैसी ही जैसी मनुष्य की। मनुष्य का अवच्छेदक लक्षण न कर पाने पर भी हम मनुष्य की पहचान तो कर ही लेते हैं। मनुष्य को अमनुष्य से अलग करते ही रहते हैं।

यह अलग करना — या यह पहचान कहिये — यह भी तुलना के आधार पर बनती है, सादृश्य–साधर्म्य को पहचान की आँख बनाकर। यह ठीक है कि धर्म और धर्मेतर के बीच कोई लक्ष्मण–रेखा नहीं उभरती, एक अनपहचान की चादर पहचान को घेरे रहती है, पर ऐसा तो हमारे बहुत–कुछ के साथ होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यहाँ लक्षणीय यह है (जैसा कि ऊपर इंगित में आ भी गया है) कि हमारी पहचान अकसर एक केन्द्र को, एक तुला को — या कहिये एक प्रतिमान या मूर्धन्य दृष्टांत को — ऊह्य रखती दिखती है। धर्म के क्षेत्र में यह तुला स्पष्टतः ही सेमेटिक धर्मों की त्रिपुटी रही है, और उनके भी केन्द्र में ईसाई धर्म बैठा दिखता है : क्योंकि तुलनात्मक विचार का विचार ही उस धर्म के अनुयायियों में उठा–बढ़ा था।

पर विचार जब उठा ही है तो केन्द्र–प्रतिमान को — बदला भी जा ही सकता है। हिन्दू धर्म या बौद्ध धर्म को तुला बनाइये तो विचार की दिशा ही अलग होती दिखेगी। और ताओ–पंथ या कन्फ़्यूशियस का मार्ग अगर धर्म का मूर्धन्य दृष्टांत हो जाये तो बात कहीं और भी दूर–दूर ही नहीं अलग–जाती दिख सकती है। अनायास प्रश्न हो सकता है : कन्फ़्यूशियस–पंथ अगर रिलिजन के अर्थ में धर्म है तो मार्क्सवाद क्यों नहीं ? कन्फ़्यूशियस के लिये लोकोत्तर गौण ही था। कह सकते हैं मार्क्सवाद उसी दिशा का एक आत्यंतिक छोर है।

पर धर्मों की गिनती किसी भी तुला पर कीजिये, जब विचार उनमें किसी भी गहराई से उतरकर उनकी तुलना के कुछ विस्तृत चित्र बनाना चाहेगा तो पहला प्रश्न होगा कि हमारी जिज्ञासा के मूल में प्रश्न क्या होंगे। हम जानना क्या चाहेंगे ?

पहला प्रश्न जो सूझता है, उसे उच्चावचता या तारतम्य का प्रश्न कह सकते हैं। स्पष्ट ही, एक पूरे धर्म–समूह विशेष को आदिम या सभ्यता–पूर्व के धर्म कहते हुए उन्हें, निचला भी माना जाता है। इस उच्चावचता की कसौटी क्या? प्रश्न तो यह है। इसकी कोई लक्षणीय कसौटी बनाई जाती हो और किसी धर्म–तत्त्व–विचार के साथ उभारी जाती हो, ऐसा मुझे नहीं लगता। जिसे सभ्यता कहते हैं, उसे आदिम 'संस्कृति'–मात्र से ऊँचा मान लिया जाता है। पर क्यों ? निकष क्या ?

यहाँ निकर्ष की खोज हमारे लिये प्रसंग बाहर होगी। मूल निकष, मैं समझता हूँ, आत्म चेतना की भूमा का विस्तार है जो प्रत्यङ्मुखता की गहराई में दिखता है, शास्त्र, सचेतन नियम–विधान आदि जिसके प्रकट लक्षण हैं। इसके पीछे विचार पर विचार कर पाने की प्रत्यङ्मुखता गहरी होकर उभरती है। धर्म अध्यात्म की ओर मुड़ता हैं। पर इस बात का विस्तार यहाँ अवांतर होगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जो एक मुख्य–सी कसौटी सामने आती लगती है, उसे धर्म का सामान्य–सार्वजनीन हो जाना कह सकते। आदिम धर्म समुदाय–विशेष सीमित होते हैं, ईसाईयत जैसे धर्म मानव–मात्र के लिये हैं : सार्वजनीन हैं; यह उनकी उच्चता लक्षण है। पर क्या ईसाईयत से पहले जो धर्म था, वह सार्वजनीन नहीं था ? बहु–पंथ–वाद (पेगनिज़्म) क्या एक–पंथ–वाद से अधिक सार्वजनीन नहीं है ? विचार की आत्मचेतना देखिये। विचार जब अपनी ओर मुड़ता है तो सहज ही बहु–पंथ–वादी होता है। सार्वजनीन का अर्थ ईसाईयत जैसा एक–पंथ–वाद, हम–ही–सत्य–हैं — वाद कैसे हो सकता है ? आत्म चेतना की सामान्यता–या सार्वजनीनता–का चिह्न ही बहुत्व की आत्म स्वीकृति में है, वैषम्य को उभारते–सँभालते, परस्पर–भाव में। प्राचीन ग्रीस और रोम में ऐसा था। धर्म में कसौटी इससे उलटी क्यों ?

जैसा हम कह चुके हैं, ईसाईयत से धर्म का तुलना–विचार शुरु होता है। ईसाई विद्वानों ने अपने धर्म के एक–सत्य होने को प्रमाण मानकर विचार किया था। ईसाईयत की बात यहाँ इसलिये भी प्रासंगिक है। उसको तोलने की आवश्यकता पहली है। ईसाईयत में धर्म का एक अद्वय सत्य ही नहीं, वह एक देव–वादी भभी है। इस आधार पर भी वह अपने से इतर धर्मों को निचला,यहाँ तक कि अधर्म ठहराता है। उन्हें धर्म के आदिम, अधूरे, अविकसित रूप भी कहता है। वे पिछड़े हैं, उन पर सत्य नहीं उतरा है। उनके पिछड़े, मिथ्या–ग्रस्त, अविकसित होने का प्रमाण यह है कि वे जड़ प्रकृति की पूजा करते हैं, जीव–जन्तुओं को देव–स्थानीय बना देते हैं। उनमें सच्चे देवत्व की धारणा का ही बोध नहीं है, धर्म कैसे कहलायेंगे?

पश्चिम ने जो वेद (एवं अन्य 'पूर्वी' कहलाते धर्मों, धर्म ग्रंथों) का अध्ययन किया, उस अध्ययन की दिशा तुलनात्मक ही थी। तुलनात्मक आधार पर ही इन तुलनाकारों ने वेदों में उभरते धर्म को निचला और निंदनीय माना– अपना यह कर्त्तव्य मानते हुए कि इनकी भ्रांति को पहचानकर, दिखाकर, इन धर्मों को मिटा देना होगा, जैसे कि ग्रीस–रोम का/के धर्म मिटाये गये थे। वैदिक धर्म को वे बहुदेव–वादी ही नहीं मानते थे, जड़–जन्तु पूजक भी मानते थे। पिछड़ेपन में भी बहुत पीछे था उनके लिये वैदिक धर्म– और, स्पष्ट ही, इस निर्णय का आधार तुलनात्मक था। वैदिक पिछड़ापन जड़–जन्तु पूजा में ही नहीं, वैदिक बहुदेव–वाद में भी प्रकट था। वैदिक बहुदेव–वाद में उन्होंने एक बड़ा बेढब बेतुकापन पाया। इसका नाम दिया हेनोथीइज़्म : अर्थात् देवताओं में भी छोटा–बड़ा कोई नहीं जैसा कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ग्रीस–रोम में था बल्कि एक नितांत अयुक्त असंगतता है : जिस देवता को अभी पूज रहे हैं, वही बड़ा देवता हो जाता है! इसे स्तुत्य– देव–मुख्यत्व–वाद का नाम दिया जा सकता है (हमारे यहाँ आज इससे मिलती–जुलती 'इष्ट' देव की धारणा है, जो एक देव कोई अपने लिये बड़ा मानते हुए दूसरे को छोटा नहीं कहते)। पर भूलिये नहीं कि हेनोथीइज़्म जैसे नाम केवल तुलनात्मक निरूपण की अभिधा के नहीं हैं, स्फुट–व्यंजित लांछना के हैं। इनका काम मिथ्या को अनावृत करना है।

कहना न होगा कि आज के किसी भी निष्पक्ष तुलना–विचार को उक्त निरूपण स्वीकृत हो भी तो लांछना स्वीकृत नहीं होगी। हुई तो विचार नहीं होगा। बल्कि विचार के लिये तो यह प्रश्न सहज लगता है कि विभिन्न धर्मों में विचार का क्या स्थान है? बड़े गहरे भेद हैं यहाँ। ऊपर जिस तुलनात्मक विचार को हमने अविचार–तुल्य माना, उसे तद्धर्म–निष्ठ विचार ही कहना चाहिये, उपयुक्त निःसंग विचार नहीं। पर जो भी हो विचार हर धर्म का अनिवार्य अंग होता है, कह सकते हैं कि धर्म के भीतर एक दिशा–विशेष भी लेता है। विचार के संदर्भ में हम भिन्न धर्मों में निःसंगता, युक्तिबुद्धि की आत्मस्थता, प्रसरता, उदारता का विराट तारतम्य देख पाते हैं। इन भेदों को उभरना तुलना–विचार एक मूल लक्ष्य होना चाहिये। स्पष्ट ही, आज के लिये महत्त्व रखती सार्थक तुलना अनादिम, सभ्य कहलाने वाले धर्मों के बीच ही होती है। विचार का पहला काम है कि इनमें विचार के स्थान और स्वरूप की ओर ध्यान दे। धर्मों की तुलना का अगर धर्मों के साथ रहने में कोई भूमिका है तो विचार के लिये इनके अंतर्गत होते विचार पर ध्यान देना पहला गंभीर प्रश्न है। या होना चाहिये।

पर हमने धर्म–तुलना के पहले पर्व में उठे विचार में निहित अन्य धर्म के प्रति लांछना की भी बात की। इस लांछना के पीछे एक और तत्त्व है जो हमारे लिये एक और कसकता हुआ प्रश्न खड़ा करता है। यह लांछना केवल विचार–धर्मी नहीं है, इसके पीछे दिव्य सत्य का ही नहीं, लौकिक सत्ता का भी भरोसा है, और उस भरोसे इस सत्य को मानने वालों का धर्म (दायित्व) बनता है कि वे अन्यों के (मिथ्या) धर्म को नष्ट करें, उन्हें अपने सत्य में दीक्षित करें। इसी में सार्वजनीन कल्याण है। धर्म का बीज — उसका सत्य कह लीजिये — लोकोत्तर होता हो, पर उसकी सत्ता तो लौकिक होती है। वह लौकिक शक्ति–सत्ता के लिये (प्रीभुत्व) के लिये प्रयत्नशील भी होता है। धर्म ही नहीं, आदर्श मात्र के साथ परंपरा का और परम्परा के साथ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सामाजिक संस्था का और संस्था में निहित सत्ता–प्रभुत्व का निहित–सा संबंध है। भिन्न धर्मों में संबंध भिन्न होता है। सेमेटिक धर्मों में रिलिजन अलौकिक सत्य के दावे को लौकिक सत्ता के दावे का आधार बनाता ही रहा है। हमारे लिये प्रश्न साफ़ है : भिन्न धर्मों की लौकिक सत्ता के प्रति वृत्ति क्या? उस वृत्ति में निहित दृष्टि क्या? फिर, एक और प्रश्न इस प्रश्न से निकलता दिखता ही है : बहुलता का स्वीकार करने वाले पेगन धर्म और अध्यात्म–प्रधान धर्मों में लौकिक सत्ता की कामना वैसी नहीं दिखती। तुलना के लिए यह बात निश्चय ही विचार योग्य है। अब क्योंकि धर्म सिद्ध ही नहीं साध्य है, इससे हमारे लिये यह भी प्रश्न उठता है कि धर्म हो क्या ?

बहुलता की और अध्यात्म की बात उठी तो एक और प्रश्न यहाँ व्यंजित होता दिख सकता है? भिन्न धर्मों में व्यक्ति का, उसके उपासना – स्वातंत्र्य का स्थान क्या? स्वातंत्र्य का ही स्थान क्या? कितना बाँधता है हमें धर्म, कितना खोलता है? और इस संदर्भ में भिन्न धर्मों में क्या भेद उभरता है, क्या दिशायें, प्रवृत्तियाँ उभरती हैं ?

प्रश्न और भी उभरते हैं। पर मैं यहाँ प्रश्नों की सूची बनाने नहीं बैठा हूँ। पर कहना न होगा कि जिज्ञासा का मार्ग प्रश्न का मार्ग होता है, और प्रश्न निष्पक्ष ही नहीं, गहरा और निःसंकोच होना चाहिये। तुलना अगर ऊपरी निरूपण तक सीमित रहे तो तुलना कितनी सार्थक होगी ?

ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग,
श्याम नगर, अजमेर रोड, जयुपर-30206

◆◆◆

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पुस्तक-समीक्षा

प्रमाणमीमांसीय चिन्तन तथा अद्वयवाद*

सच्चिदानन्द मिश्र

नवजीवन रस्तोगी द्वारा प्रणीत काश्मीर शिवाद्वयवाद में प्रमाणचिन्तन ग्रन्थ का गम्भीरता से अवगाहन ने न केवल बुद्धि के कुछ नवीन आयामों को उद्घाटित किया अपितु विभिन्न नवीन प्रश्नों को भी उद्वेलित कर दिया। मैं समझता हूँ कि किसी दार्शनिक ग्रन्थ की सफलता दो प्रकार से हो सकती है। प्रथम तो यह कि वह अध्येता को कुछ असमाहित प्रश्नों का हल खोजने के लिए चिन्तनशील कर दे, अथवा कुछ असमाहित प्रश्नों के नवीन उत्तर प्रस्तावित करे। इसके अतिरिक्त दार्शनिक ग्रन्थ की सफलता इस पर भी निर्भर करती है कि क्या वह ग्रन्थ किन्हीं नवीन प्रश्नों का उद्भावन करने में सफल हुई है? नवजीवन रस्तोगी की पुस्तक प्रथम उद्देश्य में समग्रता से सफल होती है तथा द्वितीय उद्देश्य में भी काफी हद तक सफल होती है। इस कारण ग्रन्थकार को मैं इस ग्रन्थ के लेखन के लिए बधाई देना चाहता हूँ।

काश्मीर शिवाद्वयवाद एक ऐसा दर्शन–प्रस्थान है जिसके विषय में दर्शन के अध्येताओं को भी बहुत ही कम जानकारी है। प्रथमतया तो भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में यह सम्प्रदाय उस प्रकार से प्रमुख दर्शनों में गिना नहीं जाता जिस प्रकार न्याय वैशेषिक साङ्ख्य आदि दर्शन गिने जाते हैं। द्वितीयतः इस दर्शन का पठन पाठन भी उस प्रकार प्रमुखता से प्रचलित नहीं है। तृतीयतः इस परम्परा के ग्रन्थों की शैली तथा परम्परा भी कुछ विचित्र सी है। विविध नवीन पदावलियों का आविष्कार इस परम्परा के ग्रन्थों में प्राप्त होता है, जो कि अन्यत्र दुर्लभ हैं। इस कारण इस दर्शन के सिद्धान्तों को समझने की ईमानदार कोशिश बहुत ही श्रमसाध्य हो जाती है। इस परिस्थिति में रस्तोगी द्वारा काश्मीर शिवाद्वयवाद में प्रमाणचिन्तन पर

*काश्मीर शिवाद्वयवाद में प्रमाण–चिन्तन, नवजीवन रस्तोगी, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद, 2013, मूल्य–400/–

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शोधग्रन्थ प्रस्तुत करना, और वह भी हिन्दी में, एक सुखद परिघटना है। ग्रन्थ के सम्यगालोचन से भलीभाँति परिज्ञात होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ रस्तोगी की दीर्घकालीन विद्यासाधना का प्रतिफल है।

प्रस्तुत ग्रन्थ सात अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय आधारपीठिका है, जिसके अन्तर्गत बहुत सङ्क्षेप में ग्रन्थकार ने यह बतलाने का प्रयास किया है कि काश्मीर शैव दार्शनिकों का क्या दृष्टिकोण रहा है जब वे प्रमाणमीमांसीय प्रश्नों पर विचार कर रहे होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रमाणों की सीमारेखा का भी अंकन इस आधारपीठिका में ग्रन्थकार ने कर दिया है। यह प्रत्यभिज्ञा परम्परा वस्तुतः प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमीमांसा है। ग्रन्थ के आरम्भ में ही मानाधीना मेयसिद्धिः का उद्‌घोष करते हुए इसकी स्वीकृति को काश्मीर शिवाद्वयवाद में भी अनिवार्य तत्त्व के रूप में विद्वान् लेखक ने व्यवस्थापित किया है। परन्तु यह ध्यातव्य है कि प्रमाण के अधीन सिद्धि की बात प्रमेय पर ही लागू होती है, प्रमाता पर नहीं। प्रमाता स्वयं प्रमाणाधीन सिद्धि की अपेक्षा नहीं रखता। दूसरी ओर दर्शन आत्मविद्या है। आत्म स्वरूपावगम ही दर्शन का लक्ष्य है। यह कैसा विरोधाभास है कि आत्मविद्या ही दर्शन है, आत्मा का ज्ञान ही दर्शन का लक्ष्य और उस आत्मा तक, या दूसरे शब्दों में प्रमाता तक किसी भी प्रमाण की पहुँच नहीं। तो फिर किस प्रकार से प्रमाता को जाना जा सकेगा? यह विचित्र अन्तर्विरोध है जिससे समस्त अद्वयवादी दर्शनों का सामना होता ही है। इसी कारण समस्त अद्वयवादी दर्शन किसी न किसी रूप में प्रमाणविप्लववाद का संकेत दिया करते हैं। परन्तु यदि इन अद्वयवादी दर्शनों की परिणति प्रमाणविप्लववाद में ही होनी है तो प्रमाणमीमांसा की अद्वयवादी दर्शनों में आवश्यकता तथा औचित्य क्या है? यह एक यक्ष प्रश्न के रूप में उपस्थित होता है। यह यक्षप्रश्न कुछ और ही गम्भीरता से असमाधेय सा प्रतीत तब होने लगता है, जब हम तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि में उस दर्शन की प्रमाणमीमांसा को समझने का प्रयास करते हैं। काश्मीर शिवाद्वयवाद में तत्त्वमीमांसा वस्तुतः प्रमातृमीमांसा है, जैसा कि विद्वान् लेखक ने आधारपीठिका में ही रेखांकित किया है। साथ ही साथ यह भी रेखांकन वहीं पर प्राप्त होता है कि प्रमाण का मौलिक कार्य न तो आत्मा की सिद्धि करना है और न ही उसका ज्ञापन। उसका काम विस्मृति, मोह या मल के आवरण को हटा देना मात्र है, शक्ति के प्रकाशन से शक्तिमान् तंक पहुँचा देना मात्र है। (द्र.पृ.11) एकदम ही समान दृष्टि प्राप्त होती है, आचार्य शङ्कर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की तथा उनके अनुयायियों सुरेश्वराचार्य आदि की। यह मोहापसारण मात्र ही प्रमाणों के माध्यम से सम्भव होता है। परन्तु यह मोहापसारण मात्र बौद्धिक व्यायाम नहीं अपितु हृदयङ्गमन व्यापार है। (पृ.11) परन्तु इस हृदयङ्गमन व्यापार से क्या समझा जाये, यह लेखक ने स्पष्ट नहीं किया। ऐसा प्रतीत होता है कि यह हृदयङ्गमन व्यापार तर्कबुद्धि से अगम्य की आस्था के द्वारा प्राप्ति की सम्भावना का सङ्केत दे रहा है। सचमुच में होना तो यह चाहिए था कि किस प्रकार से एक प्रमाणमीमांसीय दृष्टि उस तत्त्वमीमांसा पर या उसकी दहलीज पर हमको पहुँचाती है, इसका स्पष्टीकरण प्राप्त हो पाता। परन्तु इसका स्पष्टीकरण न तो धर्मराजाध्वरीन्द्र का प्रसिद्ध प्रमाणमीमांसीय ग्रन्थ वेदान्तपरिभाषा देता है और न ही इसी प्रकार के कुछ अन्य ग्रन्थ जो कि प्रमाणमीमांसा पर ही अपना समग्र ध्यान केन्द्रित करते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ भी इस दिशा में कोई गम्भीर दिशानिर्देश प्रदान करता हुआ नहीं दिखता।

इसका एक समाधान तो यह हो सकता है कि प्रमाणों की भूमिका इन अद्वयवादी दर्शनों में सचमुच में दोयम दर्जे की है। वे सचमुच में किसी तत्त्वमीमांसा को सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त नहीं होते अपितु एक तत्त्वमीमांसा को स्वीकार करने के बाद तदनुसार अपनी प्रमाणमीमांसा का निर्माण कर लिया करते हैं। परन्तु मुझे लगता है कि इस प्रकार का समाधान वस्तुतः प्रमाणों की भूमिका तथा उनकी सीमारेखा का सही सही मूल्याँकन किये बिना ही प्रस्तावित किया जा सकता है। इस कारण यह न तो एक ईमानदार कोशिश है और न तो गम्भीरतापूर्ण सुविचारित समाधान। यदि तत्त्वमीमांसा की स्थापना के लिए किसी प्रमाण या तर्क की कोई आवश्यकता नहीं है तो बिना सोचे विचारे किसी भी तत्त्वमीमांसा का प्रस्ताव किया जा सकता है, तो ऐसी स्थिति में सबसे विचित्र प्रश्न यह उपस्थित होगा कि फिर आखिर वह तत्त्वमीमांसा किस प्रकार से स्थापित होती है? इस प्रश्न के उत्तर की खोज ही सचमुच में दार्शनिक चिन्तन की सफलता है। इसके लिए अनुभव भी प्रमाण के रूप में प्रस्तावित किये जाते हैं तथा श्रुति या आगम भी। परन्तु अनुभव भी सर्वजनसिद्ध नहीं हैं। आपामर अनुभूति किसी भी प्रकार से अद्वयवाद के प्रतिष्ठापन में प्रमाण के रूप में प्रस्तावित नहीं की जा सकती है। इसी कारण अद्वैती उस अद्वयवाद को ब्रह्मविदनुभव से सिद्ध बतलाते हैं। द्वितीयतः प्रश्न यह भी है कि किस प्रकार से आनुभविक द्वैत को दार्शनिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चिन्तन से अधिगत पारमार्थिक अद्वयवाद या अद्वैतवाद के साथ सुसंगत किया जाये? यह समस्या बहुत बड़ी चुनौती के रूप में समस्त अद्वयवादी दर्शनों के समक्ष उपस्थित होती है। इसी बात को रेखांकित करते हुए नवजीवन रस्तोगी कहते हैं, वस्तुतः अद्वैतदर्शन की मूलभूत कठिनाई है चरम सत्ता की एकता को अक्षुण्ण रखते हुए अनेकता की व्याख्या और परिणामजन्य एक और अनेक के विरोध का परिहार। ब्रह्मवादी आत्मवादी अद्वैत परम्पराओं में विरुद्धधर्माध्यास या विरुद्धधर्माश्रयता के परिकल्प का सहारा इस कठिनाई से निपटने के लिए लिया जाता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन की एतद्विषयक दृष्टि का प्रतिपादन करते हुए रस्तोगी कहते हैं, प्रत्यभिज्ञा दर्शन परमार्थमीमांसा में सर्वार्थसिद्धिसमाश्रयता और अनुभवजगत् की व्याख्या में एकानेकाश्रयता या भेदाभेदरूपता का प्रतिपादन करता है। (पृ.9) इस प्रकार कश्मीर शिवाद्वयवाद आनुभविक प्रतिभासमान द्वैत तथा पारमार्थिक अद्वैत के मध्य एक तालमेल बनाने में सक्षम हो जाता है। इसीलिए मेरी जहाँ तक समझ बनती है, तदनुसार काश्मीर शिवाद्वयवाद आचार्य शङ्कर के अद्वैत के समान व्यवहार तथा परमार्थ के दो धरातलों की परिकल्पना नहीं करता, बिना परमार्थ तथा व्यवहार के भेद को स्वीकारे भी अद्वयवाद की प्रतिष्ठापना की जा सकती है, ऐसा इस दर्शन का अभिप्राय मुझे प्रतीत होता है।

प्रमाणमीमांसा वस्तुतः ज्ञान की उसके समस्त परिप्रेक्ष्यों में विवेचना का विज्ञान है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें ज्ञान की सम्भावना, उसके प्रामाण्य यानी यथार्थता, उसकी संख्या तथा उसके साधन का विवेचन ही प्रमाणमीमांसीय विवेचना के आधारबिन्दु हैं। ज्ञान को विभिन्न दार्शनिकों ने भिन्न–भिन्न प्रकार से समझने का प्रयास किया है। नैयायिकों ने ज्ञान को गुण के रूप में, मीमांसकों ने क्रिया के रूप में तथा सांख्य, योग आदि दार्शनिकों ने अन्तःकरण की वृत्ति के रूप में व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। परन्तु इन समस्त विवेचनों में ज्ञान की क्रियात्मकता का सिद्धान्त प्रभावशाली रूप से सामने आता है। समस्त विवेचनों में ज्ञान की क्रियारूपता की बात किसी न किसी रूप आ ही जाती है। इसका कारण यह है कि ज्ञान जिस शब्द से निष्पन्न हुआ करता है वह "ज्ञा"एक धातु है तथा धातु को सामान्यतया क्रिया का वाचक माना ही जाता है। परन्तु ज्ञान तथा क्रिया में एक मौलिक भेद है जिसको आचार्य शङ्कर ज्ञान की वस्तुतन्त्रता का निर्देश करते हुए सङ्केतित करते हैं। ज्ञान की वस्तुतन्त्रता का निहितार्थ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसमें है कि ज्ञान क्रिया नहीं हो सकती क्योंकि क्रिया वह होती है जो कि पुरुषतन्त्र हो। कर्ता व्यक्ति चाहे तो करे, चाहे तो न करे, या चाहे तो अन्यथा करे। परन्तु ज्ञान में इस प्रकार की स्वायत्तता ज्ञाता को प्राप्त नहीं होती। ज्ञान प्रमाण से जन्य है। यदि ज्ञान की सही सामग्री है तो पुरुष उसमें अपनी ओर से कुछ कर नहीं सकता। काश्मीर शिवाद्वयवाद इस ज्ञान तथा क्रिया के अन्तर को विलीन कर देता है। ज्ञान और क्रिया दोनों में कोई भेद नहीं है। इस प्रकार इस दर्शन के अनुसार ज्ञान की गतिशीलता का सिद्धान्त या गत्यात्मक ज्ञान का सिद्धान्त हमारे सामने आता है। इसी बात को बहुत मार्मिक रीति से रेखाङ्कित करते हुए रस्तोगी कहते हैं, प्रमाणविचार के व्यापकतर क्षेत्र में शैवों का पूरा उद्यम गत्यात्मक ज्ञान के सिद्धान्त (theory of dynamic knowledge) या ज्ञान के गतिशील सिद्धान्त (dynamic theory of knowledge) के रूप में विकसित करते हुए नये प्रस्थान के रूप में पहचान देने का है। (पृ.4) वस्तुतः काश्मीर शिवाद्वयवाद यहीं पर आचार्य शङ्कर के अद्वैतवाद से अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाता हुआ दिखायी देता है। अन्यथा बहुत सारे उदाहरण तथा दृष्टियाँ तो आचार्य शङ्कर या शङ्करोत्तर सुरेश्वर आदि द्वारा आलोचित मार्ग पर ही आलोकित प्रतीत होती हैं। यद्यपि सुरेश्वराचार्य तक पहुँचते पहुँचते यह क्रिया तथा ज्ञान का विभेद आचार्य शङ्कर के अद्वैत में भी तिरोहित होता हुआ दिखता है।

द्वितीय अध्याय का शीर्षक है प्रमाणचिन्तन। इस अध्याय में काश्मीर शिवाद्वयवाद में किस प्रकार से ज्ञान के विभिन्न प्रकार प्रस्तावित किये गये हैं, इसका विवेचन किया गया है। इसी अध्याय में प्रमाण विचार की कुछ अन्य प्रसिद्ध समस्याओं की तरफ भी संकेत किया गया है, तथा यह बताने की कोशिश की गयी है कि किस प्रकार से काश्मीर शिवाद्वयवाद में उनके समाधान ढूँढ़े जाते हैं। लेखक का निर्धारण है कि ज्ञान शब्द का प्रयोग चार अर्थों में इस सम्प्रदाय में किया गया है — प्रमाता के स्वरूप, शक्ति, बुद्धिवृत्ति तथा अनुभव या प्रत्यक्ष के लिए। (पृ.16) साङ्ख्य, शङ्कर के अद्वैत तथा रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत में भी ज्ञान शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग प्राप्त होता है। लेकिन इनमें इस शब्द के मुख्यतया दो ही अर्थ होते हैं। जैसे साङ्ख्य में चिद्रूप साक्षी और बुद्धि की वृत्तिरूप द्विविध ज्ञान, अद्वैत में शुद्ध चैतन्यरूप ब्रह्म तथा बुद्धि की वृत्तिरूप द्विविध ज्ञान, इसी प्रकार विशिष्टाद्वैत में धर्मिभूत तथा धर्मभूत ज्ञान के भेद से द्विविध ज्ञान की बात की जाती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परन्तु काश्मीर शिवाद्वयवाद में ज्ञान का यह चातुर्विध्य आश्चर्यजनक दिखता है। यद्यपि विद्वान् लेखक ने अपने कथन की पुष्टि के लिए विविध सन्दर्भ भी प्रस्तुत किये हैं तथापि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तुतः प्रमाता के स्वरूप तथा शक्ति के मध्य कोई भेद स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार बुद्धिवृत्ति तथा अनुभव या प्रत्यक्ष के मध्य किस प्रकार का भेद सम्भव होगा, यह स्पष्ट नहीं हो पाता। अनुभव या प्रत्यक्ष भी बुद्धिवृत्ति के ही प्रकारमात्र हैं, यह स्वीकृति अधिक सङ्गत जान पड़ती है। इसी कारण पृष्ठ 19 पर ज्ञान के विभेदों को समझाने के उद्देश्य से बनायी गयी सारणी में अनुभव या प्रत्यक्ष की दो बार आवृत्ति दिखायी देती है जो कि सन्देह को जन्म देती है। काश्मीर शिवाद्वयवाद विज्ञानवाद का एक प्रकार है तथा इस कारण ज्ञान की स्वप्रकाशता या स्वसंवेद्यता को स्वीकार करना उसकी अनिवार्य आवश्यकता है। प्रामाण्य को बाधाभाव के रूप में काश्मीर शिवाद्वयवाद में व्यवस्थापित किया गया है, इसको बहुत ही व्यवस्थित रीति से विद्वान् लेखक ने संस्थापित किया है।

तृतीय अध्याय प्रमाण के घटक इस शीर्षक से परिगणित है। इस अध्याय में प्रमाता, प्रमाण, प्रमा तथा प्रमेय के साथ साथ प्रामाण्य के स्वरूप आदि को भी विवेचित किया गया है। प्रमाता यानी ज्ञानकर्ता शैव दार्शनिकों की भाषा में विमर्शशून्य संविद्रूप है। यही प्रमाता अधिष्ठाता भी है, व्यापक भी, अनुसन्धाता भी तथा व्यवस्थाकारी भी। इसी कारण लेखक इनको प्रमातृत्व के अनुप्रत्ययों के रूप में परिगणित करता है। विशिष्टता यह है कि नैयायिक आदि दार्शनिकों के मत में प्रमाता का अधिष्ठातृत्व तथा अनुसन्धातृत्व ज्ञान की प्रक्रिया में स्वीकार्य होता है, परन्तु व्यापनकारित्व तथा व्यवस्थाकारित्व की ज्ञान की प्रक्रिया में कोई भूमिका नहीं होती। यह काश्मीर शिवाद्वयवाद की विशिष्टता है कि यहाँ पर इन दोनों की भी ज्ञान की प्रक्रिया में आवश्यकता होती है, बिना इनके ज्ञानव्यापार सम्पूर्णता को प्राप्त नहीं कर पाता।

दार्शनिक चिन्तन में यह प्रश्न बहुत ही गम्भीरता से उपस्थित होता है कि क्या प्रमाता प्रमेय बन सकता है या नहीं। यदि नहीं तो प्रमातृमीमांसा निश्चित ही अधूरी रह जायेगी। इसको स्पष्ट करते हुए लेखक का कथन है, प्रमाता की यह प्रमेयता दूसरे प्रमाताओं के प्रति उसकी आभासरूपता को लेकर है (प्रमातृता को लेकर नहीं)। प्रमाता के रूप में वह संकोचावस्था में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपने प्रमेय को लेकर प्रागनुभविक, आदिसिद्ध ही रहता है। (पृ.31) इस कारण मानाधीना मेयसिद्धि का विधान प्रमाता के ऊपर लागू नहीं होता। प्रमातृसिद्धि वस्तुतः प्रमाणमीमांसा का क्षेत्र नहीं है, इसको ग्रन्थ के लेखक ने अनेक बार सन्दर्भों के साथ याद दिलाया है। प्रमाण केवल व्यवहार के साधन मात्र हैं। प्रमाण की परिभाषा के रूप में 'प्रकाशः प्रमाणम्' इस प्रकार से प्रमाण की परिभाषा प्रस्तावित की गयी है। इस परिभाषा के आलोक में प्रमाण तथा प्रमाणफल के मध्य कोई भेद होने की सम्भावना दिखायी नहीं देती, तथा इस कारण काश्मीर शिवाद्वयवाद की ज्ञानमीमांसा इस विषय में बौद्धदर्शन के समानान्तर खड़ी दिखती है, जिसमें प्रमाण तथा प्रमाणफल के मध्य कोई भेद स्वीकार्य नहीं है। कुछ सूक्ष्म भेदों की तरफ भी विद्वान् लेखक ने संकेत किया है। जैसे कि बौद्धमत में एक प्रकार से कर्तृविहीन दृष्टिसृष्टिवाद की संकल्पना प्राप्त होती है परन्तु काश्मीर शिवाद्वयवाद में इसके लिए स्थान नहीं है। यहाँ पर ज्ञान प्रमाता का व्यापार है। वस्तुतः तो ज्ञान की प्रक्रिया में ही ज्ञान, ज्ञानसाधन यानी प्रमाण और प्रमेय के मध्य कोई भेद नहीं रह जाता है। प्रमाण तथा प्रमाणफल के मध्य भेद का न होना पूर्व में ही प्रस्तावित किया जा चुका है और चूँकि ज्ञान का विषय ज्ञान की क्रिया से स्वतन्त्र नहीं है। इस प्रकार प्रमाण की प्रक्रिया भी एक प्रकार से अद्वयवाद का संकेत प्रदान कर देती है।

प्रमाण के दो स्वरूपघटकों की चर्चा ग्रन्थकार ने की है—पहला स्वाभास तथा द्वितीय अभिनवोदय। इन दोनों अवधारणाओं में प्रथम स्वत्वेन आभास को लेकर तथा प्रमाणविषय की नवीनता की अपेक्षा को लेकर द्वितीय अवधारणा सामने आती है। इस कारण धारावाहिक ज्ञान की समस्या का समाधान करना भी आवश्यक जान पड़ता है। इसको धारावाहिक स्थलीय ज्ञानों की अनेकता को नकार कर द्वैती समाहित करते हैं। काश्मीर शिवाद्वयवाद में अद्वैती मार्ग का भी अनुसरण इस समस्या के समाधानार्थ किया जाता है तथा धर्म के भेद से धारावाहिकस्थलीय ज्ञानों में अभिनवविषयकत्व का स्थापन करके भी किया जाता है।

प्रमेय या पदार्थ की विवेचना निश्चय ही इस दर्शन में विशिष्ट है। लेखक स्पष्ट करता है कि पदार्थ या वस्तु की दो स्थितियाँ होती हैं.1) वस्तुरूप, जब उसमें प्रमेयता की योग्यतामात्र है, और 2) प्रमेयरूप, जब वह प्रमा का विषय बनता है। यह अन्य दर्शनसम्प्रदायों में प्रचलित विषय की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अज्ञात तथा ज्ञात अवस्थाओं की ओर संकेत देता प्रतीत होता है। परन्तु क्या विज्ञानवाद में यह विभेद सम्भव हो सकता है? इसी कारण प्रथम अवस्था को यहाँ पर सामान्याभासरूप में तथा द्वितीय को विशेषाभासरूप में व्यवस्थापित किया गया है। इस प्रकार यहाँ प्रमाणमीमांसा तत्त्वमीमांसा से एकरूप होती हुई दिखायी देती है। इसी कारण यहाँ पर अन्य दर्शनों में प्रसिद्ध शब्दावली का प्रयोग नहीं किया गया है। वस्तुतः वस्तु की कोई अज्ञात सत्ता नहीं है, अगर सत्ता प्रकाशात्मक है, जैसा कि काश्मीर शिवाद्वयवाद में निर्दिष्ट रूप में प्रतिपादित किया जाता है, तो अज्ञात सत्ता कहना अपने आप में बहुत बड़ा अन्तर्विरोध है। इसी लिए अज्ञातसत्ता तथा ज्ञातसत्ता को यहाँ सामान्याभासरूप तथा विशेषाभासरूप में क्रमशः परिभाषित किया गया है। अज्ञातसत्ता भी वस्तुतः सामान्यतया ज्ञात ही है। इसी कारण प्रमा का विषय आभास ही हो सकता है। प्रमात्व के अङ्ग के रूप में अनधिगतत्व तथा अबाधितत्व को यहाँ पर भी अद्वैतवेदान्त की तरह स्वीकार किया गया है। परन्तु वस्तुतः जो अनधिगत है वह भी विशेषतया ही अनधिगत है, न कि सामान्यतया। इसी कारण मोहापसारण की अपेक्षा होती है।

चतुर्थ अध्याय आसूत्रण अत्यन्त संक्षिप्त है। इसमें प्रमाणविषयक संख्या, लक्षण, विषय तथा फल के बारे में विप्रतिपत्तियों का संकेत देते हुए काश्मीर शिवाद्वयवाद के अनुसार प्रमाणों के त्रिविधत्व का स्थापन किया गया है।

पञ्चम अध्याय प्रत्यक्षलक्षण पर आधारित है। इसमें काश्मीर शिवाद्वयवाद के अनुसार विभिन्न प्रत्यक्षों तथा उनकी प्रक्रियाओं का विवेचन किया गया है। इस दर्शन की विलक्षणता यहाँ पर विशेष रूप में दिखायी देती है क्योंकि सविकल्पक तथा निर्विकल्पक इन दो प्रत्यक्षों को जहाँ अन्य दर्शनों में परस्पर अत्यन्त विलक्षण प्रत्यक्ष या एक को प्रत्यक्ष तथा द्वितीय को प्रत्यक्षाभास के रूप में मान्यता दी जाती है। यहाँ पर इन दोनों को गतिशील प्रत्यय के रूप में प्रस्तावित किया गया है क्योंकि यहाँ पर साक्षात्कारिता का तात्पर्य है वस्तुस्वरूपविकल्पन पर्यन्त प्रत्यक्ष का होना। प्रत्यक्ष के तीन भेद यहाँ पर स्वीकार किये जाते हैं। इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष तथा योगिप्रत्यक्ष। यह विशिष्टता है कि योगिप्रत्यक्ष न तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत हो सकता है और न तो मानसप्रत्यक्ष में ही। इस अध्याय में लेखक ने बहुत ही गम्भीरता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से विचार करते हुए काश्मीर शिवाद्वयवाद की प्रत्यक्षविषयक अवधारणा को सम्यक्तया स्पष्ट किया है तथा उस पर अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रभावों को भी समालोचित किया है।

छठाँ अध्याय अनुमान पर केन्द्रित है। अनुमान को यहाँ पर युक्ति के रूप में व्यवस्थापित किया गया है। अनुमान की शैव अवधारणा काफी सीमा तक बौद्ध अवधारणा के समीप जाती है परन्तु उसमें कुछ संशोधन भी अपेक्षित होते हैं। बौद्धों की तरह यहाँ पर भी अनुमान का विषय सामान्य है परन्तु वह सामान्य बौद्धवत् काल्पनिक नहीं अपितु वस्तुसत् है। हालाँकि उत्पलदेव के कुछ उद्धरणों के परिप्रेक्ष्य में लेखक के वक्तव्य में अनुमान की सामान्यविषयकता व विशेषविषयकता इन दोनों ही अवधारणाओं का खण्डन पृ.120 पर प्राप्त होता है जो कि विचारणीय प्रतीत होता है। व्याप्ति के आधार के रूप में यहाँ पर नियत्युपजीवी कार्यकारणभाव को उपस्थापित किया जाता है। इस कारण स्वभावहेतु का अन्तर्भाव किस प्रकार से कार्यकारण–भावाधारित अनुमान में किया जा सकेगा, यह एक गम्भीर समस्या उपस्थित होती है। इसके समाधान के रूप में संक्षेप में कहा जा सकता है कि स्वभावहेतु को भी शैव दार्शनिक कार्यकारणभावमूलक अनुमान में ही अन्तर्भूत कर लेते हैं। व्याप्तिग्राहक के रूप में यहाँ पर प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चक को प्रस्तावित किया गया है, जिसको संक्षेप में हम अन्वयव्यतिरेक कह सकते हैं। इस प्रकरण में व्याप्ति के अङ्ग, घटक तथा अवयवों की विस्तृत विवेचना लेखक ने की है।

सबसे बड़ा अध्याय है सातवाँ। यह अध्याय आगम पर केन्द्रित है। काश्मीर शिवाद्वयवाद को आगमानुसारी दर्शन कहा जाता है, इस आलोक में यह अकारण नहीं है कि इस अध्याय को सबसे अधिक विस्तार तथा महत्त्व प्राप्त हुआ है। जैसा कि अभिनवगुप्त का उल्लेख करते हुए लेखक कहता है कि आगम तत्त्व को समझ पाना ही सारे ज्ञानात्मक व्यापार का अन्तिम फल है। (पृ.141) वस्तुतः आगम ही काश्मीर शिवाद्वयवाद का मूल स्रोत है, मूल प्रस्थान है। आगम की बुनियाद पर ही काश्मीर शिवाद्वयवाद का समग्र दर्शन स्थापित होता है। आगम पर इस परम्परा में विचार तीन सन्दर्भों में हुआ है। वाक् के रूप में, प्रमाण के रूप में और तन्त्र के रूप में। इस अध्याय में विद्वान् लेखक ने इन तीनों ही परिप्रेक्ष्यों में आगमविषयक विचारों को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विश्लेषित किया है। आगम प्रमाण इस कारण सर्वातिशायी है कि जहाँ प्रत्यक्ष तथा अनुमान विश्व के केवल सीमित अंश का मापन कर सकते हैं, आगम विश्व का समग्रता में मापन कर सकता है। आगम का प्रमाणमूलक उपस्थापन करने की प्रक्रिया में इस दार्शनिक सम्प्रदाय में इसको प्रसिद्धि, प्रतिभान तथा आप्तोपदेश इन तीन रूपों में व्याख्यायित करने की कोशिश की गयी है। इन तीनों ही प्रारूपों को विद्वान् लेखक ने विस्तार के साथ विवेचित किया है। इन परिप्रेक्ष्यों में काश्मीर शिवाद्वयवाद के विविध चिन्तन अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों में दुर्लभ ही प्रतीत होते हैं। प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि क्या प्रसिद्धि को प्रमाण के रूप मे मान्यता दी जा सकती है। वस्तुतः यह प्रसिद्धि अन्य अनेक दार्शनिक परम्पराओं में प्रसिद्ध ऐतिह्य ही प्रतीत होती है। इसी कारण कुमारिल भट्ट आदि मीमांसकों ने इसकी आलोचना की है। काश्मीर शिवाद्वयवाद में प्रसिद्धि को प्रमाण के रूप में क्यों स्वीकृति प्राप्त है, इसकी स्थापना ग्रन्थकार ने प्रस्तुत की है। इसके अनुसार ये अनेक प्रसिद्धियाँ प्राणी के अस्तित्व का अंग होती हैं और जन्म–जन्मान्तर से अविच्छिन्न आती हुई व्यक्ति की चेतना का संस्कार करती हैं। (पृ.154) प्रसिद्धिलक्षण आगम के प्रामाण्य का प्रतिपादन करते हुये सर्वशास्त्रैकवाक्यता का स्थापन करते हुए सर्वागमप्रामाण्य का स्थापन करने का पक्ष प्रस्तावित करते हैं। प्रसिद्धिलक्षण प्रमाण वहाँ पर भी अपनी भूमिका निभाता है जहाँ पर प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा कोई प्रमाणमीमांसीय कार्य सम्पादित नहीं हो पाते हैं। उदाहरणार्थ सद्यःजात शिशु की स्तनपान में होनेवाली प्रवृत्ति न तो प्रत्यक्षमूलक है और न ही अनुमानमूलक। यह निश्चित ही प्रसिद्धि पर आधारित है। तदनुसार वयस्कों की भी विभिन्न प्रवृत्तियाँ प्रसिद्धिमूलक ही होती हैं, इस कारण निष्कर्षतः आगमाधारित होती हैं। इस प्रकरण में आगम के द्वारा किस प्रकार प्रवृत्तिमार्ग पर प्रवृत्त करानेवाला उपदेश दिया जाता है तथा निवृत्ति मार्ग का अनुगमन करने का उपदेश दिया जाता है। इन उपदेशों का विरोध किस प्रकार समाहित किया जाये? इस समस्या को भी विवेचित तथा समाहित किया गया है। निश्चित ही आगम के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह किसी अन्य माध्यम से नहीं प्राप्त हो सकता। इसी कारण भर्तृहरि तथा आचार्य शङ्कर का अनुसरण करते हुए तर्क की सर्वथा अप्रतिष्ठा की ही घोषणा करते हैं। (पृ.179) अभिनवगुप्त की दृष्टि में परमेश्वर के रचनासंसार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में तीन संसार हैं । तर्कसंसार, काव्यसंसार तथा अनुभवसंसार। (वहीं) इन सबकी अपनी इयत्ता तथा सीमा है । कविता के संसार को अनुभवसंसार या तर्कसंसार के द्वारा नहीं हृदयङ्गम किया जा सकता। उसी प्रकार तर्कसंसार की शर्तों से अनुभवसंसार या काव्यसंसार को नहीं आलोडित किया जा सकता है। तर्क की यही शोभा है कि वह गहराई की अन्तिम कोटि का स्पर्श नहीं कर सकता। वस्तुतः यही स्थल है जहाँ पर बुद्धि को अपना आत्मसमर्पण कर देना होता है। यही वह बिन्दु है जो यह सङ्केत देता है कि भारतीय दर्शनों के विभिन्न प्रस्थानों में कुछ ऐसे हैं जो तार्किक प्रस्थान हैं तथा कुछ ऐसे हैं जो श्रद्धाप्रस्थान हैं। इसी कारण उदयन ने आत्मा के स्वरूप के विषय में उपस्थापित प्रश्न के विषय में उत्तर के रूप में कहा, अगर श्रद्धा है तो उपनिषदों से पूछो, श्राद्धोऽसि चेत्? उपनिषदः पृच्छ। वस्तुतः वेदान्त के समस्त सम्प्रदाय श्रद्धाप्रस्थान के अन्तर्गत ही आते हैं और उसी प्रस्थान की एक शाखा है काश्मीर शिवाद्वयवाद।

परिशिष्ट के रूप में Manas and Indriyas in Kashmir Saivism शीर्षक आलेख भी संलग्न है। इस आलेख में लेखक ने काश्मीर शिवाद्वयवाद में मन और ज्ञानेन्द्रियों की प्रस्थिति तथा ज्ञान की प्रक्रिया में उनकी भूमिका का विवेचन किया है।

भाषाशैली और प्रतिपादन की दृष्टि से ग्रन्थ बहुत सुरुचिपूर्ण है। अनेक स्थलों पर विषय का स्पष्टीकरण करने के लिए ग्रन्थकार ने विभिन्न सारणियाँ भी प्रस्तुत की हैं। इस कारण विषयवस्तु का सम्यक् स्फोरण हो जाता है। परन्तु काश्मीर शिवाद्वयवाद के दार्शनिकों ने प्रमाणमीमांसीय विभिन्न नव-नवीन शब्दावलियों का निर्माण किया है। जिसकी ओर ग्रन्थकार ने संकेत भी किया है। इसी कारण अनेक स्थलों पर ग्रन्थ सरल होते हुए भी कठिनता का आभास कराता है। मुझे विद्वान् लेखक से एक अन्य अपेक्षा भी थी जिसको लेखक ने पूरा का पूरा छोड़ दिया है। मेरा यह मानना है कि प्रमाणमीमांसीय कोई भी ग्रन्थ भ्रमविषयक स्पष्टीकरण के विना पूरा नहीं हो सकता क्योंकि वही स्थल ऐसा है जहाँ उसकी प्रमाणमीमांसीय सिद्धान्तों की सही परीक्षा हो पाती है। परन्तु ग्रन्थकार ने इस विषय को बिलकुल ही नहीं छुआ है। मेरे अनुसार इस ग्रन्थ की एक यही न्यूनता है जबकि अंग्रेजी में विद्वान् लेखक ने इस विषय पर आलेख लिखा भी है। निश्चय ही नवजीवन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रस्तोगी जैसे विद्वानों के ग्रन्थों से हमारी अपेक्षाएँ सामान्य से काफी अधिक हुआ करती हैं। रस्तोगीजी निश्चय ही अग्रिम संस्करणों में संक्षिप्त ही सही इस विषय में भी काश्मीर शिवाद्वयवाद की दृष्टि को अपनी सहज सुस्पष्टता तथा प्रामाणिकता के साथ जोड़ते हुए इस ग्रन्थ को प्रस्तुत करेंगे, ऐसी अपेक्षा है। मैं ग्रन्थकार को राष्ट्रभाषा में इस अछूते विषय पर इस प्रकार के मौलिक कार्य को प्रस्तुत करने के लिए बधाई देता हूँ।

दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी – 221005

◆◆◆

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ISSN 0974 0053